॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, दिसम्बर १९७९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—श्रीरामका भ्रातृप्रेम (गीतावली) ...	४८१
२—कल्याण-वाणी (शिव) ...	४८२
३—भगवान्‌की अनुपम उदारता (ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन—अप्रकाशित एक व्याख्यानसे)	४८३
४—ज्ञान-सम्पत्ति (आचार्य श्रीभागवतानन्दजी)	४८६
५—मृत्युसे अमृतत्वकी ओर ...	४८८
६—संतोष सुख-शान्तिमें सहायक है (नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन) ...	४८९
७—संतोषका मूल्य! (महर्षि वैशम्पायन) ...	४९१
८—श्रीमूर्ति (डॉ० श्रीअवधविहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल्०) ...	४९२
९—गीताका कर्मयोग—१८ [श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या] (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	४९७
१०—स्वर्ग नहीं चाहिये मुझे [एक निष्काम कर्मयोगीका पौराणिक आख्यान] (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज)	५००
११—स्वर्गत्यागके फलस्वरूप ज्ञानरूप निर्वाणकी प्राप्ति (योगवाशिष्ठ) ...	५०१
१२—श्रीरामकी विनयशीलता (श्रीउलफतसिंहजी चौहान, 'निर्भय') ...	५०२
१३—महाकवि सूरदासकी उपासना-पद्धति (श्रीसन्हैयालालजी ओझा, एम्० ए०, साहित्यरत्न)	५०४
१४—जो तू चाहे सुख सदा (श्रीहरिजी भारद्वाज)	५०७
१५—भक्त नारायणदास [भक्तगाथा] ...	५०९
१६—कर्मचेष्टाद्वारा आन्तरिक शान्ति (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	५११
१७—जाग्रत् कौन ! (पं० श्रीभृगुनन्दनजी मिश्र)	५१३
१८—कुरूपता और सुन्दरता (श्रीशिवचरणसिंहजी चौहान)	५१५
१९—आप कहीं अपने प्रति अन्याय तो नहीं कर रहे हैं ! (श्रीगोरखनाथसिंहजी) ...	५१६
२०—आत्मनः प्रतिकूलानि (श्रीशिवेन्द्रप्रसादजी गर्ग, 'सुमन')	५१७
२१—साधकोंके प्रति	५१९
२२—पढ़ो, समझो और करो ...	५२१

चित्र-सूची

१—उमा-महेश्वर	(रेखा-चित्र)	आवरण-पृष्ठ
२—श्रीरामका भ्रातृप्रेम	(रंगीन चित्र)	मुख-पृष्ठ

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]

श्री ईश्वर मठ
पुस्तकालय,
काशी.

श्रीरामका भ्रातृप्रेम

'हारहिं खेल जितावहिं मोही'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः ॥

वर्ष ५३ | गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, दिसम्बर १९७९ | संख्या १२ पूर्ण संख्या ६३७

श्रीरामका भ्रातृप्रेम

राम-लखन इक ओर, भरत-रिपुदवन लाल इक ओर भये ।
सरजु-तीर सम सुखद भूमि-थल, गनि-गनि गोइयाँ बाँटि लये ॥
एक लै बढ़त, एक फेरत, सब प्रेम-प्रमोद-बिनोद-भये ।
एक कहत भइ हार रामजू की, एक कहत भइया भरत जये ॥
हारे हरष होत हिय भरतहि, जिते सकुच सिर नयन नये ।
तुलसी सुमिरि सुभाव-सील, सुकृती, तेइ, जे एहि रंग रये ॥

(गीतावली, बालकाण्ड, ४५)

कल्याण-वाणी

जबतक स्वार्थ है, तभीतक सेवामें त्रुटि रहती है। भगवत्प्रेमीका अपना कोई स्वार्थ नहीं रहता, इसलिये उसकी जान-अनजानमें की हुई प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही लोकका उपकार करनेवाली होती है और वस्तुतः ऐसा पुरुष ही सच्चा स्वार्थी है; क्योंकि उसका प्रत्येक कार्य 'स्व' (आत्माके) 'अर्थ' (हित) अर्थात् परमात्माके लिये ही होता है। इसीलिये वह कोई अहितकर कार्य नहीं कर सकता। क्योंकि उसके मनमें तो अपने अतिरिक्त कोई दूसरा रहता ही नहीं। सभी आत्मस्वरूप ही दीखते हैं।

पर विषयप्रेमी मनुष्य ही स्वार्थी कहलाता है, यद्यपि वह तत्त्वतः स्वार्थी नहीं होता। जो अपने ऊपर विपत्ति बुलाता है, वह स्वार्थका—(स्व-अर्थका) अपने हितका साधक कैसे समझा जा सकता है? वह तो इन्द्रियोंके भोगोंको बटोरनेमें ही—धन, स्त्री, स्वादिष्ट भोजन, यश, मान आदिके संग्रह करनेमें ही लगा रहता है और इसीको वह अपना स्वार्थ समझता है। परंतु इस बातको भूल जाता है कि इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे मिलनेवाला सुख अन्तमें विषवत् दुःखदायी होता है। परिणाममें नरक तो है ही। भला, इसको स्वार्थ कैसे कहा जा सकता है? इसमें तो स्वार्थका—अपने हितका नाश ही होता है। परंतु जबतक यह स्वार्थ रहता है तबतक यथार्थ स्थायी सुख कभी नहीं मिल सकता। (यही इस स्वार्थका मूल दोष है)।

इसलिये जहाँतक बने विषयसुखजनित स्वार्थका त्याग करो, अपने शरीर, मन, बुद्धि और अपने कहे जानेवाले सब पदार्थ परमात्माके चरणोंमें अर्पित कर दो।

सच्चा समर्पण वही है, जिसमें कुछ भी न बच रहे। जहाँतक मनुष्य कुछ बचा रखता है, छिपा रखता है, वहाँतक समर्पण पूर्ण नहीं होता—पूर्ण समर्पण करो; अन्तरमें खोज-खोजकर एक-एक वस्तु उन्हें दे डालो; फिर देखो उनकी प्रेम-दृष्टिसे तुम किस प्रकार दिव्य आनन्दमें सराबोर हो जाते हो।

उस दिव्य आनन्दको पाना ही तुम्हारे जीवनका उद्देश्य है। वही तुम्हारा स्वरूप है। तुम विकारी नहीं हो। तुममें दुःखका लेश भी नहीं है। यह माया है, इसे हटा दो; फिर तुम्हारा दिव्यानन्दस्वरूप तत्काल प्रकाशित हो जायगा। माया तबतक नहीं हटती, जबतक कि तुम उसे हटाना नहीं चाहते। मायाने तुम्हें नहीं बाँध रक्खा है, तुम्हींने मायाको पकड़ रक्खा है; छोड़ दो उसे—वह जिसकी है, उसे दे दो; बस, उसी क्षण तुम मुक्त हो जाओगे। उनसे कहो—

तुझको तेरा सौंपता, क्या लागे है मोर!

परंतु तुम्हारी यह मायाकी पकड़ है बड़ी अद्भुत! तुम्हारी पकड़में आते ही मायाका जाल बिछ जाता है और तुम उसमें फँस जाते हो। तुम पकड़ते हो, जाल बिछाते नहीं, पर तुम्हारी पकड़में आते ही उसमें जाल बिछानेकी शक्ति आ जाती है; जिससे तुम उसे छोड़ना भूल जाते हो; चारों ओर तुम्हें बन्धन-ही-बन्धन दिखायी देते हैं। ओह! जगज्जाल कितना भयंकर है!

तुम घबराकर जब उस जालसे निकलना चाहते हो, मायाको छोड़ना चाहते हो, तब अनायास ही तुम्हें मायापति भगवान्का स्मरण होता है। तुम उन्हें पुकारते हो, व्याकुल होकर उनकी टेर लगाते हो तो वे तत्काल आकर जाल काट डालते हैं और तब तुम मायाको छोड़—उनकी माया उन्हें सौंपकर, परम शुद्ध आनन्दमय हो जाते हो। पर इसकी साधना शुरू करनी होती है स्वार्थ-त्यागसे।

—'शिव'

*

भगवान्‌की अनुपम उदारता

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन—अप्रकाशित एक व्याख्यानसे)

श्रीमद्भगवद्गीता (७ । १८)में श्रीभगवान्‌के वचन हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

मेरे जो चार प्रकारके भक्त हैं वे सभी उदार हैं और ज्ञानी तो मेरा साक्षात् (आत्मा) स्वरूप ही है। ये सब उदार भक्त कौन-कौन हैं? उनका परिचय भगवान्‌ने गीताके ७वें अध्यायके १६वें श्लोकमें इस प्रकार दिया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

'अर्जुन! सुकृती अर्थात् उत्तम कर्म करनेवाले चार प्रकारके जो भक्त मुझको भजते हैं, वे आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी हैं।' उन चारोंमें अर्थार्थी वह है, जो सांसारिक वस्तुओं या पदार्थोंकी कामनासे मुझे भजता है। दूसरा उससे श्रेष्ठ वह आर्त भक्त है, जिसके अन्तःकरणमें काम करनेके समयमें—व्यवहारकालमें—तो कोई कामना नहीं होती, पर संकटकालमें वह सब ओरसे निराश होकर उस संकटसे मुक्ति पानेके लिये आर्त-भावसे मुझे पुकारता है। ऐसे भक्तोंमें गजेन्द्र, द्रौपदी इत्यादि हो गये हैं। तीसरा भक्त होता है जिज्ञासु।

जिज्ञासु भक्त सांसारिक पदार्थोंकी तो कोई कामना नहीं करता, पर उसकी भी बस, एकमात्र यही कामना होती है कि वह परमात्म-तत्त्वको कैसे जाने, उसे कैसे प्राप्त करे? आत्मोद्धारकी तीव्र अभिलाषा एवं तत्त्वकी जिज्ञासा उसे सदा बनी रहती है। चौथा भक्त है—निष्काम या ज्ञानी, जिसे कोई कामना होती ही नहीं है। ऐसा सर्वथा कामनाशून्य ज्ञानी भक्त (जो मुझे तत्त्वसे जानता है) कभी मुक्तितककी भी कामना नहीं करता। उसकी यह कामना भी नहीं होती कि यदि मैं कोई कामना नहीं करूँगा तो मुझे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो जायगी अथवा आत्माका उद्धार हो जायगा। इस प्रकारकी कोई कामना वह कभी करता ही नहीं है। यह विशेष बात सिद्ध पुरुषोंमें तो होती ही है और जो उसके लायक होता है उसमें भी होती है।

भगवान्‌के उपर्युक्त चारों प्रकारके भक्तोंमें जो सबसे श्रेष्ठ है, वह भगवान्‌का अतिशय प्यारा ज्ञानी भक्त ही है। उसकी अनन्य निष्ठा और निष्कामभक्ति एकमात्र परमात्मामें ही होती है। उसकी विशिष्टता निष्कामता और तत्त्वज्ञान हैं। भगवान्‌ने गीतामें ऐसे ही ज्ञानी भक्तकी विशेषता तथा श्रेष्ठता सातवें अध्यायके १७से१९ तकके श्लोकोंमें बतलायी है। भगवत्तत्त्वको जाननेवाला ऐसा ज्ञानी ही भगवान्‌को अतिशय प्रिय है; क्योंकि भगवान्‌के सिवा उसकी प्रीति कहीं अन्यत्र नहीं होती है। यदि उसकी प्रीति मुक्तिमें भी होती तो वह जिज्ञासु होता। लेकिन उसकी कहीं भी कोई आसक्ति या प्रीति न होनेसे वह अर्थार्थी आर्त, जिज्ञासु—इन तीनोंसे बढ़कर श्रेष्ठ है। इसीलिये वह भगवान्‌को तथा भगवान् उसको अतिशय प्यारे हैं। यहाँ भगवान् अपनी एवं भक्तकी एकता नहीं बतला रहे हैं। भेद-उपासनाका गूढ़भाव ही इन श्लोकोंमें दर्शाया गया है। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि भगवान्‌के प्रिय तो सभी भक्त हैं; क्योंकि वे सभीको उदार कहते हैं, फिर ज्ञानीको ही इतना महत्त्व क्यों दिया गया? उसे भगवान्‌ने 'अत्यन्त प्रिय' और 'मेरी आत्मा है'—ऐसा क्यों कहा? उदारका तात्पर्य है—अपने स्वत्वको प्रसन्नतापूर्वक दूसरेकी सेवामें लगानेवाला। भगवान्‌के भक्त ऐसे ही उदार होते हैं। अपना समय, शरीर, मन, बुद्धि, शक्ति-सामर्थ्य आदि समस्त

सत्व-मात्रको विश्वात्मा—परमात्माके लिये अर्पण कर देना ही उनकी उदारता है। भगवान्‌के कहनेका भाव यह है कि ऐसे भक्त इसलिये उदार हैं कि वे भगवान्‌पर पहले विश्वास कर उन्हें भजते हैं; भगवान् उन्हें पहले प्रेम करते और तब वे भजते हैं—ऐसी बात नहीं है। इसीलिये वे सभी उदार हैं—**'उदाराः सर्व एवैते** *।' यों सामान्यरूपसे भगवान् सबपर समान-रूपसे प्रेम करते हैं, पर इनपर विशेष प्रेम करते हैं। यह परमात्माकी उदारता है। रामचरितमानसमें भगवान्‌के श्रीमुखके ये वचन हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

—यही बात गीता ९। २९में इस प्रकार कही गयी है—**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः॥**

अर्थात्—'मैं सब भूत-प्राणियोंमें समभावसे व्यापक हूँ, मेरा कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है।' आगे यह भी कह दिया कि मेरे जो भक्त मुझे प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

यहाँ अहंके साथ एक वचन है और भजनेवालोंके लिये बहुवचन है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् तो एक ही हैं, पर उन्हें भजनेवाले अनेक हो सकते हैं। अर्थात् भगवान्‌के अनुसार वे सब अनेक होकर भी मुझमें रहते हैं और मैं एक होकर भी उन सब अनेकोंमें रहता हूँ। उन भक्तोंमें भी भगवान्‌ने ज्ञानीको श्रेष्ठ पद दिया है। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि वे सभी भक्त मुझ-(परमात्मा)में अपने-आपको लगाते हैं और मुझमें पहले विश्वास करते हैं, तब मुझे भजते हैं; यह उनकी मेरे प्रति उदारता ही तो है। यदि मैं पहले उनके प्रति उदारता बरतता तो मैं उदार होता, पर मैं तो अपनी उदारता बादमें प्रकट करता हूँ—भगवान्‌के इस कथनसे स्पष्ट है कि वे अपने भक्तोंको उदार मानते हैं। इस प्रकार वे सभी भक्त भगवान्‌की दृष्टिमें भगवान्‌से भी श्रेष्ठ हैं—**'राम ते अधिक राम कर दासा'** भगवान् अपने इन भक्तोंको कितनी ऊँची दृष्टिसे देखते हैं। जब भगवान्‌का अर्थार्थी, आर्त तथा जिज्ञासु भक्तोंके लिये भी ऐसा भाव है, तब ज्ञानीके लिये जो भगवान्‌से कभी कुछ नहीं चाहता, कभी कुछ भी नहीं माँगता, उनके हृदयमें यदि उनसे भी ऊँचा स्थान हो तो आश्चर्यकी बात ही क्या है?

द्रौपदीने जब सब ओरसे निराश होकर भगवान्‌को आर्तभावसे पुकारा, तब उन्हें तुरंत प्रकट होना पड़ा—विलक्षण वस्त्रावतार लेना पड़ा। भगवान् अपने आर्त भक्तके लिये जब इतने उदार हैं तो फिर जो उनसे कभी कुछ भी नहीं चाहते ऐसे निष्काम भक्तको वे प्रत्यक्ष मिल जायँ तो फिर इसमें संदेह ही किस बातका है।

भगवान् भक्ति-भावसे मिलते हैं। यदि प्रेमकी भावना तीव्र हो तो सकाम-भावसे (साधन-भक्ति करनेपर) भी भगवान् मिल जाते हैं। अर्थार्थी भक्त ध्रुवको राज्य-प्राप्तिकी कामना थी। उन्होंने उस कामनाकी पूर्तिके हेतु भगवद्-विश्वासपूर्वक एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय लिया। इस निमित्त आये हुए घोर संकटोंकी भी उन्होंने कोई परवा न करके मात्र भगवान्‌के शरणापन्न होकर उनका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया। यद्यपि ध्रुव राज्यके लिये भजन करते थे, तथापि उनका अतिशय

* अनुपम उदार तो भगवान् हैं, जो अर्थार्थी—अर्थ (धन) चाहनेवालेको भी उदार मानकर 'उदाराःसर्व एवैते' कहते हैं। वे शीलके ऐसे निधान हैं कि भक्तोंकी मात्र पहल देखकर उन्हें ही—'अर्थार्थीको भी उदार कहते हैं। वस्तुतः उनके समान कोई उदार नहीं है। तभी तो गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—'ऐसो को उदार जग माहीं।'

श्रद्धा-प्रेम और विश्वास देखकर ही भगवान् उनके पास भी आये और बोले—'वरदान माँगो !' ध्रुवने कहा—'आपके दर्शन हो गये, अब कोई कामना नहीं रही । पहले जो राज्यप्राप्तिकी इच्छा थी, अब वह भी समाप्त हो गयी ।' इसपर भगवान्‌ने कहा—'पहले थी न ? उसे तो मैं अभी पूरी करूँगा ही, क्योंकि लोग यह सोचेंगे कि जो सकाम भावसे (मुझ) भगवान्‌को भजते हैं, उन्हें मेरा दर्शन होते ही उनकी कामना नष्ट हो जाती है ।' इससे प्रकट है कि भगवान् सकाम-भक्तोंको अपनी ओर लगानेके लिये ही भक्तकी इष्टकामनाकी पूर्ति करते हैं । इसीलिये वे ध्रुवसे कहते हैं कि तुम्हें इस लोकमें यहाँका राज्य तो करना ही पड़ेगा पश्चात् परलोकमें तुम्हें ध्रुवपदकी प्राप्ति होगी । इतनेपर भी भगवान् अपने दिये हुए (वरदान)से संतुष्ट न हुए । उन्होंने ध्रुवसे और भी कुछ माँगनेके लिये कहा । तब ध्रुव बोले—'मैं आपकी स्तुति करना चाहता हूँ, पर मुझे करना आता नहीं है । ऐसी कृपा करें कि जिससे मैं आपकी स्तुति कर सकूँ ।' इसपर श्रीभगवान्‌ने अपने दिव्य शंखका स्पर्श बालक ध्रुवके मुखसे करा दिया । फलस्वरूप तत्काल ही उन्हें समस्त शास्त्रोंका ज्ञान हो गया । ध्रुव स्तुति करने लगे । इस प्रकारकी परम उदारता तो केवल भगवान्‌में ही संभव है जो ध्रुवकी राज्यकामनापर उन्होंने राज्य, ध्रुवलोक एवं भक्ति दी । ऐसी ही उदारता श्रेष्ठ तथा सिद्ध पुरुषोंको भी अपनी भक्ति तथा सेवा करनेवालोंके प्रति करनी चाहिये ।

भगवान् तो भक्तोंको सब कुछ देकर भी संकोच ही करते हैं, ऐसा ही उनका स्वभाव है—

जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहिं लीन्हीं ।
सोइ संपदा बिभीषन कहँ अति सकुचसहित प्रभु दीन्हीं ॥

परमोदार भगवान् अपने भक्तोंको अपनेसे भी अधिक उदार मानते हैं । अतः उनकी उदारता अनुपम है, अनूठी है ।

भगवान्‌के लिये विभीषणको मात्र लंकाका राज्य देनेकी तो बात ही क्या है ? अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्वामी भगवान् अपने किसी भक्तको ब्रह्माण्डका राज्य भी दे तो उनके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है । जैसे कोई करोड़पति व्यक्ति किसीको यदि एक हजार रुपया दे दे तो यह उसके लिये कोई बड़े महत्त्वकी बात नहीं हुई । फिर भगवान्‌की सामर्थ्य तो उससे अनन्तानन्तगुनी बढ़कर है । बस, यही उनकी विशेषता है कि वे अपनी इस उदारताका कभी कोई मूल्य नहीं मानते; क्योंकि प्रथम तो उनके वे भक्त ही उन्हें उदारतापूर्वक भजते हैं और भक्तोंकी ऐसी उदारताके सामने भगवान् तो स्वयं कहते हैं कि 'यदि भक्त मुझे बेंचे तो मैं बिक भी जाऊँ ।' जब अर्थार्थीके प्रति भगवान्‌की इतनी उदारता है तो फिर जिज्ञासुकी तो बात ही क्या ? जिज्ञासुकी साधन और साध्यकी जिज्ञासा सदा बनी रहती है । ऐसा भक्त भगवान्‌की सेवा करनेकी, उनके पास बने रहनेकी सदा इच्छा किया करता है । चौथी श्रेणीपर जो ज्ञानी भक्त है, उसकी स्थिति सर्वोपरि और सबसे विलक्षण है । उन तीनोंमें तो भगवान्‌से मिलनेकी कामना भी है; परंतु ज्ञानीमें तो कोई कामना ही नहीं है । इसीलिये वह भगवान्‌का अतिशय प्यारा है । वह भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो, इस भावनासे भी उसे कोई कामना नहीं है । कामनाओं तथा इच्छाओंका तो वहाँ सर्वथा अभाव है । ऐसा निष्काम भक्त जो जिज्ञासुसे भी श्रेष्ठ है—वह 'ज्ञानी' है । वही भगवान्‌की आत्मा है—'ज्ञानी त्वात्मैव मे'

वह समझता है कि भगवान्‌से मुक्तिकी भी कामना करनेकी आवश्यकता नहीं है । उनके दर्शनोंकी, नित्य सामीप्यमें बने रहनेकी भी उसे कामना नहीं है । वह तो एकमात्र भगवान्‌की इच्छापर ही सब कुछ छोड़ देता है । क्योंकि उसपर कामनाकी पहुँचसे परेकी तो भगवान्‌की असीम कृपा है । हमारी बुद्धि उसे समझ ही नहीं सकती । इस स्थितिमें भगवानसे कामना करनेसे तो मूर्खता ही सिद्ध होती है ।

तभी तो भगवान् कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी भक्त मुझे अतिशय प्रिय है और कहते हैं कि उससे बढ़कर संसारमें मुझे कुछ भी प्यारा नहीं है। भला, आत्मासे प्रिय और क्या हो सकता है। भगवान् नारायणको लक्ष्मी, श्रीरामको सीता और श्रीकृष्णको रुक्मिणी, राधा आदि भी उतनी प्रिय नहीं हैं। भगवान्के कथनानुसार ज्ञानी भक्त वही है जिसे भगवान् अत्यधिक प्रिय हों, वस्तुतः ऐसे ही भक्तशिरोमणिके लिये भगवान् कहते हैं कि ऐसा निष्काम भक्त मेरा ही नित्य-स्वरूप है। 'वह' जो है वह—'मैं' ही हूँ, भगवान्का यही अनुपम औदार्य है।

ज्ञान-सम्पत्ति

(लेखक—आचार्य श्रीभागवतानन्दजी)

जीवमात्रको आनन्दकी अभिलाषा या कामना है। वह आनन्द भी शुद्ध, शाश्वत, अपरिवर्तनीय, सद् तथा ज्ञानरूपमें (न सुषुप्तिवत्) 'चिन्मय' होना चाहिये, प्रकान्तरतया जीव अपने सजातीय स्वरूप सच्चिदानन्दत्वकी ही कामना करता है। मानवकी वास्तविक अभिलाषा केवल परमात्मप्राप्तिकी ही है। इसी कामनाको **'नरो नारायणं बुभूषति'** कहा गया है। नारायण, ब्रह्म या परमात्माको ज्ञानरूप भी कहा गया है। दूसरे शब्दोंमें अपने (स्व+रूप) स्वरूप या आत्मरूपको पहचान लेना ही 'ज्ञान' है। इस ज्ञानाग्निद्वारा समस्त कर्मबन्धनोंको जला डालनेवाले जन ज्ञानमय परमात्मस्वरूप हो जाते हैं। यही ज्ञान यहाँ ग्राह्य है।

साधन-सम्पत्ति—जो कुछ दृश्य-जगत् या प्राणि-पदार्थमात्र है, वह सब ईश्वररूप है। इस ज्ञान-सम्पत्तिका ही संग्रह इष्ट होना चाहिये। पर इसके लिये भी पात्रता—अधिकारी होना चाहिये। मुक्तिकोपनिषद् (१। ५१)में कथा आती है कि एक बार विद्याने स्वयं किसी ब्राह्मणसे आकर कहा था—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवे शठाय
मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

अर्थात्—दोषदर्शी, शठ, मिथ्यालापी, भोगीको मुझे न देना। यथासम्भव मुझे गुप्त रहस्यात्मक ही रखना। अतः ऐसी ज्ञान-दृष्टि प्राप्त करनेकी कुछ अनिवार्य योग्यताएँ होती हैं। यह ज्ञान-सम्पत्ति अर्जित करनेके इच्छुकमें पात्रता होनी चाहिये। असङ्गता हो जाना ही पात्रता है, पात्रताके लिये आवश्यक है उसका अद्वेषी और अहिंसक होना। इसके लिये उपयोगी है—वैरका सर्वथा परित्याग।

आप सत्स्वरूप हैं। अतः आप स्वयं अपने और दूसरेके जीनेमें बाधक न हों। आप चिद् हैं, इसलिये ज्ञानार्जनमें न अपने लिये और न दूसरोंके ज्ञान-पिपासाकी शान्तिमें अवरोधक बनें। आप आनन्दस्वरूप हैं, अतः न अपने न दूसरेकी आनन्दानुभूतिमें कभी बाधक हों। यही अहिंसावृत्ति है। जैन-दर्शनमें इसे विशेष महत्त्व प्राप्त है। 'श्रावकाचार-रत्न-कारण्डव'में कुछ पालनीय (उपादेय) और कुछ त्याज्य नियम बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—विषयाशासे अतीत, संग्रह एवं परिग्रहरहित ज्ञान तथा ध्यान-तपमें अनुरक्ति। जैसे खूँटेको कई बार चोट देनेसे गहराईमें ले जाते हैं ऐसे ही बार-बारके सतत अभ्यासद्वारा ज्ञान-ज्योतिको जाग्रत् रखें—

शतेन मुदिता याति सहस्रेण तु तिष्ठति—
करते रहनेसे ज्ञान दृढ होता है।

मन बन्दर है, इसे शास्त्रचिन्तनरूपी वृक्षकी डालियों-पर सदा घुमाते रहना चाहिये। गीताकी घोषणा है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय।' शास्त्र अनुशीलन और निदिध्यासनके निरन्तर अभ्यासद्वारा मन-इन्द्रियोंके नियन्त्रणपूर्वक अभीष्ट ज्ञानार्जन किया जा सकता है।

चिन्तन-समुद्रमें अवगाहन, स्वाध्याय-सुधाका आस्वादन-कर संयम-सुमेरुपर अडिग स्थितिवाले अभ्यासीजन ही ज्ञानप्रसादके पात्र होते हैं। 'मैं शुद्ध-मुक्त-चेतन आत्मा हूँ'—इस प्राप्त ज्ञानका सदुपयोग करनेसे पात्रता स्वतः प्राप्त होती है। यद्यपि इस ज्ञानदीपकको चञ्चल मनकी आँधियाँ विना मनसा-वाचा-कर्मणा संयमके अकम्प नहीं रहने देतीं, तथापि निरन्तर मनोनिग्रहपूर्वक अभ्यास करते रहना चाहिये, जिससे ज्ञान-दीप्ति सदा प्रज्वलित रहे।

इस ज्ञान-सम्पत्तिके साथ काल-सम्पत्तिपर भी विचार किया जाना आवश्यक है। समयको बहुमूल्य समझना तथा जो कार्य आज इसी समय होना चाहिये, उसे उसी समय सम्पन्न करनेका निश्चित उपक्रम होना चाहिये। किसीने कहा है—'टिक-टिक करती घड़ी मानो सबको यही शिक्षा देती है कि 'जो करना है सो जल्दी कर लो, घड़ी बीतती जाती है।' नित्यप्रति अस्त होते हुए सूर्य जो मनुष्यकी आयु साथ लेकर जाते हैं, यही उपदेश देते हैं। सूर्यकी यह चेतावनी कर्मशील बनानेके लिये है।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।

उठो! और अपने कर्तव्य-कर्म तथा लोक-कल्याणके कर्मोंमें जुट जाओ। यह दुर्लभ समय हमारे लिये चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पतरु है। समयका मूल्य हमें तब प्रतीत होता है जब स्टेशन पहुँचनेके एक मिनट पूर्व गाड़ी छूट गयी होती है। इस प्रकार विचार करनेपर पता लगता है कि एक मिनट समयका भी कितना मूल्य है। हमारा एक क्षणका अत्यल्प समय भी कितना महत्त्व रखता है। अतः समय नष्ट किये बिना उच्चतम मनोबल, अदम्य उत्साह और अडिग धैर्यके साथ धर्मशास्त्रोंके आलोडन-विलोडनद्वारा ज्ञान-सम्पत्तिका संग्रह अनवरत करते रहें। इस ज्ञान-रत्नके प्रकाशसे आत्म-साक्षात्कार सम्भव और सुलभ है। समस्त संसारका कार्य दृढ़ सङ्कल्पसे ही होता है। बालक ध्रुवका उदाहरण सामने है। दृढ़ इच्छा-शक्तिके बलपर ही भगवान्‌का साक्षात् दर्शन पाया जा सकता है; अतः 'स्व' और 'पर'के कल्याणके लिये दृढ़-संकल्पी होना आवश्यक है। दृढ़-सङ्कल्पीके लिये बाधाएँ सहायक बनती हैं

दिनं वा रात्रिर्वा प्रखरतपनो वा हिमरुचिः
कुशानां वीथीनां मृदुलनवदूर्वाभरपथः।
सुदूरं पार्श्वे वा वसतिरितनामा कुलधियो
न जायन्ते कर्मस्वविरतमना ते हि सुधियः॥

'दिन या रात्रि, गर्मी या सर्दी, कठोर या कोमल, दूर या पासके मार्गका चिन्तन करके बुद्धिमान् लोग कर्मसे विरत नहीं होते।' साधन-सम्पत्तिवान् प्रज्ञाके प्रकाशमें सब कुछ देखता है। क्या देखता है?

प्रश्नोपनिषद्‌में इसका उत्तर है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।

अर्थात्—एक ही ज्ञान आँखसे देखनेवाला, त्वचासे स्पर्श करनेवाला, कानसे श्रोता, नासिकासे घ्राता, जीभसे रसयिता, मनसे मन्ता, बुद्धिसे बोद्धा, अहङ्कारसे कर्ता नाम-वाला होता है। प्रत्येक इन्द्रियद्वारा ज्ञानात्मा ही भोग कर रहा है। जैसे एक ही सूर्य जलकी लहरोंमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूपोंमें भासित होता है, वैसे ही एक ही ज्ञान, मनद्वारा इन्द्रियोंमें आता है। विषयका ग्रहण करना प्रतीत होता है। वस्तुतः ज्ञेय विषयके रूपमें भी ज्ञान ही है। जैसे प्रतिबिम्बके देखनेपर या स्वप्नमें विषय एवं इन्द्रियजनित संयोगमें वास्तविक सुख नहीं होता—सुखकी मात्र प्रतीति होती है; उसी प्रकार शुद्ध, बुद्ध, मुक्तरूप परमात्मा है—यह अनुभूति होना, उसकी ओर प्रवृत्त होना ज्ञान है **'मोक्षे धीर्ज्ञानमुच्यते'**प्रमादाव-च्छिन्न चेतनवृत्तिद्वारा विषयावच्छिन्न-सा होकर वस्तु या

विषयोंमें भासित होता है। इसका तात्पर्य यही है कि ग्राह्य एवं ग्राहक दो नहीं है। आश्रय एक है। उसी आश्रयतत्त्वको भगवान्, परमात्मा या ब्रह्म कहते हैं भागवतकारने भी—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा।
वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते

आदिसे यही बात कही है। प्रश्नोपनिषद् (११)के ऋषिके भी वचन हैं—

सर्वमाप्नोति स ततो हि सर्वः तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति।

जो अधिकारी इसे जान लेता है, वह परमात्मासे सर्वथा तदाकार (एक) हो जाता है। अर्थात् अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको पहचान लेता है। यह ब्रह्म, 'मैं' 'तू'—सब तत्त्वतः एकमात्र ज्ञानात्मा ही हैं। इसे जान लेना ही उसके समझनेका तथा द्रष्टाका भेद सदाके लिये हट जाना है। इसीमें कृतार्थता है।

मृत्युसे अमृतत्वकी ओर

[ज्ञानदृष्टिसे भोग-रोगकी निवृत्ति]

मानव-जीवन एक शून्य—बिन्दुके सदृश है। तबतक उसका कुछ भी मूल्य नहीं, जबतक उसके आगे त्याग एवं वैराग्यका कोई अङ्क न लगे। भोग और भोजनमें तथा वसन और भवनमें विमुग्ध रहनेवाले मानव-जीवनमें भी कभी इतना चमत्कारपूर्ण परावर्त होता है कि वह अपने शून्य होते जीवनके आगे वैराग्यका अङ्क लगाकर मर्त्यसे अमृत हो जाता है।

विदेह-देशकी राजधानी मिथिलाके राजा निमि भवभोगोंमें अत्यन्त आसक्त रहते थे। भोगके अतिरेकमेंसे दाह-ज्वरका वह भयङ्कर कालकूट फूट निकला, जो रात-दिन निमिके प्रिय देहको सालता रहता। निमिका जीवन-सुख, जीवन-भारमें परिणत हो गया—सर्वत्र दुःख और दर्दकी सृष्टि!

वैद्यराजने चन्दनके बावन लेपोंका आदेश दिया। चन्दन घिसने और लेप करनेका काम राजरानियोंने अपने हाथमें ही रखा—निमिके प्रति रानियोंके मनमें कितना गहरा अनुराग था। चन्दन घिसते समय चूड़ियोंके सम्मिलनसे समुत्थित कोलाहल भी जब निमिको सह्य न हो सका, तब सौभाग्यसंसूचकमात्र एक-एक चूड़ी रखकर रानियोंने अपना कार्य गतिमान् रखा। कार्य-सम्पन्नतामें अब कोलाहल बाधित न था, वातावरणमें शान्ति थी।

निमिने पूछा—क्या चन्दन नहीं घिसा जा रहा है? उत्तर मिला—घिसा तो जा रहा है, परंतु प्रत्येक रानीके हाथमें एक-एक चूड़ी होनेसे संघर्षणजन्य शब्द नहीं हो पा रहा है।

निमिकी अन्तश्चेतना जागी। राजा निमि अन्तस्तलमें उतरकर सोचने लगे—'एकत्वमें ही वास्तविक सुखका अधिष्ठान है।' एकत्व-भावनाकी, असङ्गत्व-विचारणाकी पराकाष्ठामेंसे वैराग्य आविर्भूत हुआ, जिसको पाकर निमि एक पलभर भी राजप्रासादमें न रह सके। वे आत्म-साधनाके महापथपर प्रस्थित हो पड़े।

बस, क्या था! भोगका सम्राट् योगका परिव्राट् बनकर आत्म-भावमें भावित होकर अमृतत्व पा गया।

संतोष सुख-शान्तिमें सहायक है

(नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

आजकल ऐसा कहा जाता है कि 'आलसी और अकर्मण्यलोग अपनी दुर्बलताको छिपानेके लिये संतोषकी दुहाई दिया करते हैं; वस्तुतः संतोष ऐसे ही निकम्मे लोगोंके कामकी चीज है। इस संतोषकी भावनाने ही भारतवासियोंको कर्तव्यविमुख बनाकर पराधीनताकी कठिन बेड़ीमें जकड़ दिया था। इससे मुक्त होनेका उपाय असंतोषकी वृद्धि और विस्तार ही है। असंतोष ही उन्नतिका मूल है, असंतोष ही अपनी स्थितिका सच्चा अनुभव कराकर आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहित करता है, असंतोषसे ही जीवनमें जागर्ति आती है और असंतोष ही मनुष्यको कर्तव्यपरायण बनाकर उसे सुखी बना सकता है। असंतोषका ही परिष्कृतरूप है—महत्त्वाकाङ्क्षा।'

यह सत्य है कि लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये चित्तमें एक प्रकारके असंतोषकी वृत्ति जागनी चाहिये—परंतु वह लक्ष्य क्या है, यही सबसे बड़ा विचारणीय प्रश्न है। विषय-सुखके लिये असंतोषकी जागर्ति कदापि लाभदायक नहीं है; क्योंकि विषय-सुख वास्तविक सुख है ही नहीं। विषय-सुखके लिये जितना असंतोष बढ़ेगा, जितनी उसे पानेकी चेष्टा होगी और जितने विषय प्राप्त होंगे, उतना ही विषयोंका अभाव बढ़ेगा। विषयोंकी कितनी ही प्राप्ति हो जाय, कितने ही दुर्लभ विषय मिल जायँ, मनुष्यका मन कदापि उनसे तृप्त नहीं हो सकता। राजा ययातिने पुत्रकी जवानी लेकर हजारों वर्षोंतक विषय-भोग करके भोगतृष्णाको मिटाना चाहा, परंतु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी, तब हारकर उन्होंने कहा—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत्।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १३—१६, १८)

'पृथ्वीमें जितने खाने-पीनेके सामान, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, गाय-बैल, स्त्री-पुत्र हैं, उन सबके मिल जानेपर भी कामासक्त मनुष्यके मनको कभी तृप्ति नहीं हो सकती। विषयोंकी कामना उनके भोग करनेसे कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घी डालनेसे जैसे आग और भी बढ़ती है, वैसे ही भोग मिलनेसे कामनाकी आग भी अधिक भड़कती है। जब मनुष्य किसीका भी बुरा न चाहकर सब प्राणियोंमें समदृष्टि हो जाता है, तब उसके लिये सभी दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं। जिसका त्याग करना दुर्बुद्धि पुरुषोंके लिये बहुत कठिन है और शरीरके जीर्ण होनेपर भी जो जीर्ण नहीं होती, सुखी होनेकी इच्छावालेको चाहिये कि उस दुःखमयी तृष्णाका शीघ्र परित्याग कर दे। मुझे पूरे एक हजार वर्ष निरंतर विषय-सेवन करते हो गये, परंतु मेरी तृष्णा नहीं बुझी, यह उलटे बढ़ती ही जाती है।' ज्यों-ज्यों विषयोंकी तृष्णा बढ़ेगी, चाहे वह व्यक्तिगत हो या देशगत—त्यों-त्यों अभावका विस्तार होगा, फलतः दुःख बढ़ता जायगा।

अतएव यह अनित्य, अपूर्ण और क्षणभङ्गुर विषयसुख मानव-जीवनका लक्ष्य नहीं है। मानव-जीवनका लक्ष्य तो उस सर्वोपरि सुखकी प्राप्ति है जो अखण्ड, अनन्त, पूर्ण और सदा एकरस है। इसलिये जिस पुरुषको वास्तविक सुखकी चाह हो, उसे भोगतृष्णाका दमन करके भगवान्के विधानानुसार जो कुछ भी सुख-दुःख

प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट रहना चाहिये। तृष्णानाशपूर्वक संतोषमें जैसा सुख है, वैसा सुख लोक-परलोकके किसी भी भोगमें नहीं है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

सांसारिक भोगोंमें और स्वर्गादिके दिव्य महान् सुखोंमें कोई भी सुख तृष्णा-क्षयके सुखके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं है। योगदर्शनकार श्रीपतञ्जलिने कहा है—

संतोषादनुत्तमसुखलाभः (योगदर्शन साधनपाद ४२)।

'संतोषसे अनुत्तम सुखकी—निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है।' संतोषसे नित्य सर्वगत आत्मामें स्थिति होती है तथा तभी सच्चा और अखण्ड निरतिशय आनन्द मिलता है; क्योंकि अनन्त, असीम, सनातन, नित्य सर्वगत, अचल, अविनाशी आनन्द आत्मामें ही है। यह आनन्द ही आत्माका स्वरूप है। इसीसे आत्माराम पुरुषोंको अभावका बोध नहीं होता और वे प्रत्येक स्थितिमें आत्मानन्दमें निमग्न रहते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(गीता ३।१७)

'जिसकी आत्मामें रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

संतोष आलसी और अकर्मण्य पुरुषोंके कामकी वस्तु नहीं है। आलसी और अकर्मण्य पुरुष संतोषी नहीं होते; वे तो कामनाकी ज्वालामें सदा जलते रहते हैं। उनकी तृष्णा कभी नहीं मिटती। कुशलतापूर्वक कर्म करनेकी शक्ति और मति न होनेके कारण वे संतोषका नाम ले लेते हैं। उनका वह संतोष वस्तुतः आध्यात्मिक पथके परम साधनरूप 'संतोष'से सर्वथा भिन्न एक तामसिक भावमात्र है। संतोष तो मनुष्यको विषयासक्तिसे छुड़ाकर, तृष्णाके तपते हुए प्रवाहसे पृथक् कर, ईश्वराभिमुखी बनाकर सच्चा कर्तव्यशील बना देता है। शान्तचित्त संतोषी पुरुष ही अपने सारे व्यक्तिगत स्वार्थोंको छोड़कर निष्कामभावसे देश और विश्वके कल्याणके लिये सम्यक्-रूपसे यथायोग्य कर्तव्य-कर्मका आचरण कर सकता है।

संतोषकी भावनाने भारतवासियोंको कर्तव्य-विमुख और पराधीन बना दिया है, यह कल्पना भ्रममात्र है। बल्कि, संतोषका अभाव और तृष्णाकी प्रबलता ही देश-प्रेम और विश्व-प्रेमके आदर्श भावोंको कुचलकर सबको सुखी देखनेके उदार भावको नष्टकर मनुष्यके मनमें देश और विश्वके प्रति विश्वासघात करनेवाली नीच वृत्तियाँ पैदा कर देती हैं। भोगतृष्णाके कारण मनुष्य अपने सामान्यसे व्यक्तिगत स्वार्थके लिये देशात्मा और विश्वात्माका हनन करनेको तैयार हो जाता है! फलतः अपनी ही मूर्खतासे अपना विनाशसाधन कर बैठता है। इससे यह सिद्ध है कि असंतोष उन्नतिका नहीं, वरं अवनतिका ही मूल है। असंतोषसे जीवनमें जागर्ति नहीं आती। जीवनमें सच्ची जागर्ति आती है, सत्त्वगुणके बढ़नेसे। गीता कहती है—

'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।'
(१४।११)

असंतोषसे तो सत्त्वगुणका विकास रुक जाता है, जिसके फलस्वरूप भय, द्वेष, शत्रुता, हिंसा और व्यष्टि तथा समष्टिके हृदयमें अशान्ति और दुःखोंकी बाढ़ आ जाती है। यही कारण है कि आज जगत्‌में जितना असंतोष बढ़ रहा है उतने ही भय, द्वेष, शत्रुता, हिंसा, अशान्ति और दुःखोंका जोर भी बढ़ रहा है।

असंतोषसे होनेवाले भावी सुखकी मिथ्या आशामें (अपने पास) साधन और शक्ति होनेपर भी दुखियोंके दुःखनिवारणकी चेष्टा न करना बहुत बड़ी भूल है। बुद्धिमान् पुरुषको ऐसी गलती नहीं करनी चाहिये।

(साधन और शक्तिका सदुपयोग न करनेपर दोनों छीन जाते हैं । अतः उनके सदुपयोगमें प्रमाद नहीं करना चाहिये ।)

संतोषके साधनसे मनुष्यकी भोगलालसा शान्त होती है, वह परमात्मापर विश्वास करके सत्य तथा न्यायके मार्गसे जीवन-निर्वाह करना सीखता है और सत्यकी रक्षाके लिये प्राणोंको न्योछावरतक कर सकता है। परमात्मा ही एकमात्र सत्य हैं और उनकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है, इस सत्यको पानेके लिये संतोषका साधन करना परम आवश्यक है ।

संतोषका साधन दो प्रकारसे होता है, (१) आत्माके स्वरूपको समझकर आत्माकी पूर्णतामें विश्वास करनेसे और (२) परम मङ्गलमय सर्वेशुद्ध भगवान्के विधानपर निर्भर करनेसे। दोनोंका फल एक ही है । एक ज्ञानियोंका मार्ग है दूसरा भक्तोंका। भगवान्ने गीता (१२ । १४, १९) में भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए दो बार 'संतुष्ट' शब्दका प्रयोग करके भक्तोंमें संतोषकी आवश्यकता सिद्ध की है।

'संतुष्टः सततं योगी और संतुष्टो येन केनचित् ।'

गीताके ही चतुर्थ अध्याय-(२२-२३)में भगवान्ने कहा है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

जो पुरुष भगवान्के विधान और प्रकृतिके नियमानुसार बिना ही प्रयास प्राप्त वस्तु और स्थितिमें संतुष्ट है, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत है, किसीकी वस्तु या स्थितिसे द्वेष नहीं करता तथा सफलता-असफलतामें समबुद्धि रहता है, वह कर्तव्य-कर्म करनेपर भी कर्मबन्धनमें नहीं बँधता; क्योंकि आसक्तिसे रहित, परमात्माके ज्ञानमें स्थित चित्तवाले मुक्त पुरुषके समस्त कर्म, जो वह स्वाभाविक ही यथार्थ लोककल्याणार्थ करता है, परमात्मामें ही प्रविलीन हो जाते हैं ।'

इससे सिद्ध होता है कि संतोष मनुष्यको कर्तव्य-कर्म-त्यागके लिये बाध्य नहीं करता, बल्कि वह उसे अचल समत्वकी शान्तिमय भूमिकापर पहुँचाकर सदा-के लिये सुखी बना देता है और जो-जो उसके सम्पर्कमें आते हैं, उनको भी सुखी बनानेकी चेष्टा करता है । वस्तुतः 'संतोषः परमं सुखम् ।' है, अतः संतोषकी साधना करनी चाहिये ।

संतोषका मूल्य !

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम् ।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ॥
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥

(महा० वन० २ । ४५-४६)

'तृष्णाका कहीं अन्त नहीं है; संतोष ही परम सुख है । अतः विद्वान् पुरुष इस संसारमें संतोषको ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं । यह तरुण अवस्था, यह रूप, यह जीवन, रत्नराशिका यह संग्रह, ऐश्वर्य तथा प्रिय-जनोंका सहवास—सब कुछ अनित्य है, अतः विवेकी पुरुषको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ।'

—महर्षि वैशम्पायन

श्रीमूर्ति

(लेखक—डॉ० श्रीअवधबिहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल्०)

श्रीगोविन्ददेवजीका श्रीविग्रह जो आजकल जयपुरमें है, पहले वृन्दावनमें केशीघाटके निकट प्राचीन मन्दिरमें था। श्रीरूपगोस्वामीने श्रीगोविन्ददेवजीके दर्शनके सम्बन्धमें सर्वसाधारणको यह चेतावनी दे रखी थी कि—

स्मेराभङ्गीत्रयपरिचितां साचि विस्तीर्णदृष्टिं
वंशीन्यस्ताधरकिसलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्गः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु, तरङ्ग २)

'हे सखे ! यदि तुम्हारी स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धवोंके साथ आमोद-प्रमोदमें सुखसे जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा हो तो केशि-तीर्थके समीप उन गोविन्द नामक हरितनु (साक्षात् हरिके देहसे अभिन्न श्रीमूर्ति)के दर्शन न करना, जो मयूर-पिच्छसे अलंकृत, मन्द-मन्द मुसकराते त्रिभङ्गी-मुद्रामें वहाँ खड़े हैं, जिनके नेत्र बंकिम एवं विशाल हैं और जिनके अधरोंपर मधुर मुरली सुशोभित है; क्योंकि उन्हें एक बार भी देख लेने पर दुःखमय संसारकी सुध-बुध समाप्त हो जाती है।' आज भी सहस्र-सहस्र लोग नित्यप्रति इन गोविन्ददेवजीके दर्शन करने जाते हैं, पर ऐसे कितने भाग्यवान् हैं, जो उनके दर्शनकर अपने बन्धु-बान्धवों या संसारको भूल जाते हैं ?'

श्रीमूर्ति और श्रीभगवान्

तो क्या श्रीरूपगोस्वामीने गोविन्ददेवके श्रीविग्रहके अलौकिक स्वरूप और प्रभावका जो वर्णन किया है, वह मिथ्या है ? क्या उनका श्रीविग्रह साक्षात् 'हरितनु' नहीं है ? नहीं, ऐसी बात नहीं। रूपगोस्वामीका वर्णन तो यथार्थ है, उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। दोष तो हम लोगोंकी दृष्टिका है, जो गोविन्ददेवके श्रीविग्रहके दर्शन करके भी उनके वास्तविक चिन्मय स्वरूपके दर्शन नहीं कर पाते। केवल गोविन्ददेवका विग्रह ही नहीं; अपितु भगवान्‌की सभी मूर्तियाँ उनके साक्षात् चिन्मय देहसे अभिन्न, साक्षात् भगवान् ही हैं। पर चिन्मय वस्तुको ग्रहण करनेके लिये दिव्य चिन्मय इन्द्रियोंका होना आवश्यक है। जबतक हमारी दृष्टि दूषित है, जबतक हमारे भीतर चिन्मय वस्तुको ग्रहण करने योग्य चिन्मय इन्द्रियोंका विकास नहीं होता, तबतक हमें भगवान्‌के श्रीविग्रहके चिन्मय स्वरूपके दर्शन होना सम्भव नहीं और तबतक हमें श्रीमूर्तिके साधारण दारुशिलादिकी प्रतिमाके रूपमें ही दर्शन होते रहेंगे। पर अपने इस दृष्टि-दोषके कारण श्रीमूर्तिको दारु-शिलादिकी प्रतिमामात्र मानना अपराध है। 'श्रीचैतन्य-चरितामृत'में श्रीमूर्तिके विषयमें इसे बड़े सुन्दर ढंगसे समझाया गया है—

साक्षात् व्रजेन्द्रसुत इथे नाहिं आन।
जे अज्ञ करये तारे प्रतिमा हे न ज्ञान॥
सेई अपराधे तार न हय निस्तार।
घोर नरके ते पड़े कि बलि व आर॥

(चै० च० १। ५। २००-२०१)

श्रीमूर्तिको साधरण शिला मानना अपराध है। यह अन्धमुनिके उपाख्यानसे प्रमाणित है। महाराज दशरथ जब अन्धमुनिके पुत्र-(श्रवणकुमार)का वध मृगके भ्रमसे करके उसके मृत देहको उनके पास ले आये थे, तब उन्होंने विलाप करते हुए कहा था—'क्या मैंने कभी श्रीहरिकी प्रतिमामें शिला-बुद्धि की थी, जिसके कारण मुझे यह पुत्र-शोक प्राप्त हुआ है'—

शिलाबुद्धिकृता किं वा प्रतिमायां हरेर्मया ?

श्रीभगवान् और श्रीमूर्तिमें कोई भेद नहीं है। यह भगवान् कृष्णकी अपनी उक्तिसे भी स्पष्ट है—

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलंकुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २७ । ३२)

'मेरे भक्त प्रीतिपूर्वक मुझे वस्त्र, उपवीत, आभरण, पत्र, माल्य, गन्ध, चन्दनादिसे यथोचित रीतिसे सुशोभित करते हैं ।' यहाँ उन्होंने अपनी श्रीमूर्तिको 'मां' (मुझको) कहा है, इससे स्पष्ट है कि उनमें और उनकी मूर्तिमें कोई भेद नहीं है । स्वयमुद्भूत प्रतिमाओंकी ही तरह शिल्पि-रचित एवं प्रतिष्ठित मूर्तियोंकी भी ऐसी ही महिमा है ।

वस्तुतः भगवान् और श्रीमूर्तिकी अभिन्नता सिद्ध है । जिस प्रकार अजामिलको मरते समय अपने पुत्र 'नारायण'का नाम लेनेपर 'नारायण' नाम और स्वयं नारायणमें अभिन्नत्वके कारण नामाभासका भी फल—मोक्ष मिला, उसी प्रकार शास्त्रोंके अनुसार जिस-किसीने मूर्तिके स्वरूपको बिना जाने धोखेसे भी मरते समय यदि सेवा की, उसे भगवान्से मूर्तिकी अभिन्नता होनेके कारण भगवत्-सेवा-आभासका फल मिला और उसकी मुक्ति हो गयी । 'भक्ति-संदर्भ'में श्रीजीव-गोस्वामीने इस सम्बन्धमें बृहन्नारदीयोक्त कपोतकी कथाका उदाहरण इस प्रकार दिया है । एक कपोत व्याधके शरसे विद्ध होकर भाग रहा था । उसे कुत्तेने पकड़ लिया । कुत्ता उसे अपने मुँहमें लेकर एक मन्दिरके चारों ओर घूमता रहा । कपोतद्वारा श्रीविग्रहकी परिक्रमाका आभास घटनेके कारण उसकी मुक्ति हो गयी[1] ।

इसी प्रकार 'विष्णुधर्म'में जहाँ प्रतिमा निर्माण एवं प्रतिष्ठाके सभी मन्त्रोंका उल्लेख है कहा गया है कि किसी भगवत्-मन्दिरमें एक चूहा मन्दिरके बुझते हुए दीपकका तेल पीने लगा । तेलमें मुँह डालनेसे तेल अपनी सतहसे कुछ ऊपर उठकर बत्तीके मुँहतक पहुँच गया और बत्ती प्रज्वलित हो गयी । प्रज्वलित बत्तीके स्पर्शसे चूहा जलकर मर गया । पर उसे श्रीमूर्तिके समीप दीपदानके आभासका फल मिला और इससे उसकी मुक्ति हो गयी । यदि श्रीमूर्ति और भगवान्में अभेद न होता तो कपोत और चूहेको इस प्रकार भगवत्-सेवा-आभासका फल न मिलता ।

इस सम्बन्धमें कालनाके पण्डित गौरीदासद्वारा सेवित श्रीचैतन्य-महाप्रभु और श्रीनित्यानन्दप्रभुके श्रीविग्रहोंका वर्णन ध्येय है । कहते हैं, महाप्रभु और नित्यानन्द प्रभु एक बार कालनास्थित गौरीदासजीके घर पधारे । वहाँ नृत्य-कीर्तनके साथ बड़ा महोत्सव हुआ । महोत्सवके पश्चात् गौरीदास पण्डित दोनों भाइयोंके चरणोंमें लोटकर अश्रुगद्गद-कण्ठसे अनुनय-विनय करते हुए बोले—'प्रभो ! मुझे लगता है कि आपके यहाँसे विदा हो जानेपर मैं एक पल भी आपके बिना जीवित न रह सकूँगा । मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे छोड़कर कहीं न जायँ । यहीं रहकर मुझे चिरकाल अपनी सेवाका सुख प्रदान करें ।' महाप्रभुके बहुत समझानेपर भी जब गौरी-दास पण्डित किसी प्रकार उन्हें छोड़नेको तैयार न हुए, तब भक्तवत्सल गौरहरिने कहा—'अच्छा, तुम हम दोनोंकी मूर्तियाँ रखकर सेवा करो । हम तुम्हारी सेवा मूर्तिरूपमें उसी प्रकार अङ्गीकार करेंगे, जिस प्रकार तुम चाहते हो ।' इसपर भी गौरीदास पण्डित पूर्णरूपसे आश्वस्त न हुए । पर महाप्रभुकी आज्ञासे उन्होंने उनकी और नित्यानन्द प्रभुकी मूर्तियाँ तैयार करवा लीं और महाप्रभु और नित्यानन्द-प्रभुके साथ उन्हें भोजन करने बैठाया । चारोंको एक साथ भोजन करते देख वे परमानन्दित हुए । भोजनके पश्चात् पुष्पमाला पहनाने और सर्वाङ्गमें चन्दन लेपन करनेके छलसे चारोंकी परीक्षाकर वे पूर्णरूपसे आश्वस्त हुए । तब महाप्रभु और नित्यानन्दजीने कहा—'हमारी जिस जोड़ीको भी चाहो रख लो, और दूसरीको जाने दो । 'गौरीदासने जो जोड़ी बोल रही थी, उसीसे रह जानेकी प्रार्थना की । वह मूर्तिरूपमें रह गयी । दूसरी उठकर जाने लगी तो गौरीदासको संदेह हुआ । उन्होंने जानेको प्रस्तुत

१—भक्ति-संदर्भ-१५२ ।

महाप्रभु और नित्यानन्द प्रभुसे पुनः कहा—'नहीं, नहीं, आप दोनों रहिये' और दूसरी जोड़ीकी ओर संकेत करते हुए कहा—'इन्हें जाने दीजिये।' तब वे (दोनों) युगलमूर्ति रूपमें रह गये और दूसरे जाने लगे। इस प्रकार कई बार हुआ। तब निरुपाय हो गौरीदासने श्रीविग्रहरूपमें एक युगल (जोड़ी)को रख लिया। आज भी वही श्रीविग्रह कालनामें विराजमान हैं[२]।

मूर्तिरूपमें भगवान्‌की कृपा—श्रीमूर्ति जीवोंके प्रति भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका प्रतीक है। सांसारिक जीव भगवान्‌की सेवा-पूजा कर भवसागरसे पार हो सकें, इसलिये श्रीभगवान् स्वयं मूर्तिरूपमें प्रकट होकर उनकी सेवा ग्रहण करते हैं, पर भक्तकी परीक्षा करने और उसकी उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये मौन धारण किये रहते हैं। जब सेवा करते-करते उसका दृष्टि-दोष दूर हो जाता है, अन्तःकरण शुद्ध और विश्वास दृढ़ हो जाता है तब कभी स्वप्नमें और कभी प्रत्यक्षरूपसे वे अपने चिन्मय स्वरूपका परिचय देते हैं। उस समय यदि भक्तके हृदयमें कदाचित् उनके चिन्मय स्वरूपके सम्बन्धमें संदेहका कुछ अंश रह जाता है तो उसे अधिकार होता है, परीक्षाद्वारा उसे दूरकर लेनेका, जैसा कि वृन्दावनके एक सुप्रसिद्ध भक्त लालाबाबूके उदाहरणसे प्रमाणित है।

लालाबाबू कलकत्ताके एक सम्भ्रान्त, बँगाली-परिवारके प्रतिष्ठित और धनी व्यक्ति थे। वे श्रीराधाकृष्णके अनन्य भक्त एवं उपासक थे। वृन्दावनमें उनके द्वारा निर्मित श्रीराधा-कृष्णका विशाल मन्दिर है। बहुत धन-व्ययकर उन्होंने इस मन्दिरमें बड़े आकारकी राधा-कृष्णकी अति सुन्दर युगल-मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा करवायी थी। प्रतिष्ठा हो चुकनेपर उनके मनमें संदेह जगा कि सचमुच मूर्तियोंमें प्राण है या नहीं! उन्होंने एक बार शीतकालमें श्रीकृष्णके सिरपर मक्खनकी टिक्की रख और एक बार उनकी नाकमें रूई लगाकर परीक्षा की थी। तब मक्खन सिरके तापसे पिघल गया था और रूई श्वासके साथ बाहर आ गयी।

भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही मूर्तिरूपमें अवतीर्ण नहीं होते। इसमें उनकी अपनी गरज भी होती है। वे इसके बिना अपूर्णता और अतृप्तिका बोध करते हैं। वे प्रेमस्वरूप हैं। प्रेमका स्वभाव ही है अतृप्ति। प्रेम जितना अधिक गूढ़ होता है, उतनी ही अधिक उसकी प्यास होती है। अनन्त भगवान्‌का प्रेम अनन्त है। इसलिये उनकी प्यास भी अनन्त है। अनन्त प्यासको बुझानेके लिये उनका प्रयास भी अनन्त है। मूर्तिरूपमें प्रकट होकर अनन्त भक्तोंकी प्रेम-सेवा अङ्गीकार करना और भाँति-भाँतिसे उनकी मनोवृत्तिके अनुकूल व्यवहार कर उन्हें सुखी करना उस अनन्त प्रयासका ही स्वाभाविक परिणाम है।

प्रेममें कोई किसीपर अहसान नहीं करता। न भक्त भगवान्‌पर और न भगवान् अपने भक्तपर। दोनों एक-दूसरेसे प्रेम करते हैं; बस, केवल प्रेमके लिये प्रेम। जिस प्रकार भक्त भगवान्‌से प्रेम किये बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार भगवान् भी भक्तसे प्रेम किये बिना नहीं रह सकते। भक्त अपना सब कुछ भगवान्‌को समर्पित कर देता है तो भगवान् भी अपना सब कुछ भक्तको समर्पित कर देते हैं। मूर्तिरूपसे भगवान्‌का प्रकट होना एक प्रकारसे भक्तके प्रति उनका आत्म-समर्पण ही है। वे अपने अनन्त ऐश्वर्य और स्वातन्त्र्यको त्यागकर भक्तके हाथकी कठपुतली बन जाते हैं। भक्त जैसे रखता है, वैसे ही वे रहते हैं। जो खिलाता है खाते हैं, जो पहनाता है पहनते हैं, जब सुलाता है तब सोते हैं, जब जगाता है तब जागते हैं। यहाँतक कि भक्तके इच्छानुसार ही वे उठते और बैठते हैं। हाँ, उठते-बैठते भी वे भक्तके इच्छानुसार ही हैं। ऐसा करनेमें भगवान् स्वयं अतिशय आनन्दका अनुभव करते हैं। वृन्दावनमें श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी शालग्रामरूपमें उपविष्ट अपने उपास्य श्रीराधारमणके श्रीविग्रहकी सेवा किया करते थे। एक बार उनके मनमें यह अभिलाषा जगी कि यदि उनके ठाकुरजीके भी हाथ-पैर, नाक-कान आदि अङ्ग-

२—अमिय-निमाई चरित, लेखक—श्रीशिशिरकुमार घोष, खण्ड ५, पृष्ठ २२। २४।

उपाङ्ग होते तो वे भी अन्य ठाकुरोंके सेवकोंकी भाँति उन्हें वस्त्राभूषण पहनाकर और भाँति-भाँतिसे उनका श्रृङ्गार कर सुखी होते। उसी रात शालग्रामरूपमें बैठे श्रीराधारमण हस्त-पादादिसहित अति मनोहर त्रिभङ्ग-मुद्रामें उठकर खड़े हो गये। भक्तगण आज भी उनके इसी रूपके दर्शन करते हैं।

श्रीधामपुरीके टोटा गोपीनाथजीकी विशाल मूर्ति, जिसकी सेवा श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अभिन्न परिकर श्रीगदाधर पण्डित किया करते थे, स्थानक (खड़ेरूपमें) प्रतिमा थी। जब सेवाधिकारी गदाधर बहुत वृद्ध हो गये और उन्हें उस विशाल मूर्तिका खड़े-खड़े सेवा करना कष्टकर लगने लगा, तब वे भक्तका कष्ट देखकर बैठ गये। आज भी वे बैठे ही दीखते हैं।

भगवान् अपने भक्तोंको सुखी करनेके लिये क्या नहीं करते? पुरीके निकट प्रसिद्ध साक्षीगोपालका मन्दिर है। उनकी सेविका एक रानीके पास एक बहुमूल्य मुक्ता थी। वे सोचने लगीं कि यदि इस मुक्ताका बुलाकरूपमें साक्षी-गोपाल धारण करते तो बुलाकके साथ उनकी मनोहर रूपमाधुरीके दर्शन कर मैं कितना आनन्द-तृप्त होती! पर साक्षी-गोपालकी नाक कहाँ छिदी थी, जो वे बुलाक धारण करते? रानी हृदय मसोसकर रह गयीं। उसी रात साक्षीगोपालने स्वप्नमें उनसे कहा—'दुःखी क्यों होती हो? देखो न, मेरी नाक छिदी हुई है। माँने छोटेपनमें ही छिदवा दी थी। दूसरे दिन रानीने देखा तो सचमुच उनकी नाकमें छेद था। अहा! भक्तकी कामनापूर्तिके लिये भगवान्‌को अपनी नाक छेद लेनी पड़ी।

मूर्तिरूपमें भगवान्‌का आत्मसमर्पण—मूर्तिरूपमें भगवान् भक्तकी सेवा ग्रहण ही नहीं करते, स्वयं सेवा करते भी हैं और सेवा करके जितना सुखी होते हैं, उतना सेवा ग्रहण करके सुखी नहीं होते। माधवेन्द्रपुरीजीको गोवर्धनके एक लता-कुञ्जमें छिपी गोपालमूर्तिने गोपवेशमें दूध ले जाकर दिया था और कहा था—'मैं इसी गाँवमें रहता हूँ। तुम्हारे-जैसे अयाचक वृत्तिपर रहनेवाले महात्माओंके लिये आहार जुटाकर उनकी सेवा किया करता हूँ।' माधवेन्द्रपुरीके लिये ही रेमुनाके गोपीनाथजीने खीरकी चोरी की थी, तभी उनका नाम पड़ा था—'खीर-चोर गोपीनाथ'। वृन्दावनकी गोपालमूर्ति अपने भक्तके लिये उसके साथ पैदल चलकर उस स्थानपर गयी थी, जहाँ उसे उसके पक्षमें साक्षी भरनी थी। तभी उसका नाम पड़ा था—'साक्षी-गोपाल।' जगन्नाथपुरीके जगन्नाथजीने तो संग्रहणीसे आक्रान्त अपने भक्त माधवदासकी असह्य पीड़ा देखकर उनके शौचके लिये बार-बार जल लाकर उनके मल-मूत्रसे सने देहको स्वयं अपने करकमलोंसे धोया था और ऐसा कर अपने-आपको कृतकृत्य माना था। धन्य हैं, ऐसे भक्त और भावग्राही श्रीभगवान्!

मूर्तियाँ आठ प्रकारकी होती हैं—शैली (पत्थरकी बनी), दार्वी (काष्ठसे निर्मित), लौही (सुवर्णादि धातुमयी), लेख्या (चित्रपटादि), लेप्या (मृत्तिका—चन्दनादिसे बनी हुई), मनोमयी और मणिमयी (भाग० ११।२७।१२)। इनमें जो चल प्रतिमाएँ हैं, उनका आवाहन और विसर्जन होता है, जो अचल होती हैं, उनका केवल प्रतिष्ठाके समय आवाहन होता है। उसके पश्चात् आवाहन या विसर्जन नहीं होता (भाग० ११।२७।१३)। शालग्रामशिलाकी न प्रतिष्ठा होती है, न उसका आवाहन-विसर्जन होता है; क्योंकि उसमें भगवान्‌का अधिष्ठान स्वाभाविकरूपसे रहता है—

शालग्रामशिला यत्र तत्र संनिहितो हरिः।

श्रीमूर्तिकी सेवा-विधि—श्रीमूर्तिकी सेवामें अदीक्षित व्यक्तियोंका अधिकार नहीं है। दीक्षित व्यक्तियोंके लिये श्रीमूर्ति-सेवा अत्यन्त आवश्यक है। आगमशास्त्रके प्रमाणानुसार मन्त्र-लाभ करनेके पश्चात् जो लोग मन्त्र-देवताकी अर्चना नहीं करते, उनके सभी कर्म निष्फल होते हैं, उनका मन्त्र देवता अनिष्ट करते हैं।[3]

३. हरिभक्ति विलास ५।१२५ धृत स्कन्द-पुराण, कार्तिक माहात्म्यका वचन।

श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है कि यद्यपि श्रीमद्भागवतके मतसे अर्चन अत्यावश्यक नहीं है और शरणापत्ति आदि नवधा-भक्तिके किसी एक अङ्गके साधनसे अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है, तथापि श्रीनारदादिके मतानुसार जो लोग भगवान्से सम्बन्ध स्थापित करनेके उद्देश्यसे गुरुदेवसे दीक्षा ग्रहण करते हैं, उनके लिये दीक्षाके पश्चात् अर्चन अत्यन्त आवश्यक है[3]। उन्होंने यह भी लिखा है कि सम्पत्तिवान् गृहस्थके लिये अर्चनमार्ग ही मुख्य है। स्कन्दपुराणमें प्रह्लादकी उक्ति है कि जिस गृहस्थके घर भगवान्का श्रीविग्रह नहीं है, उसके घरका अन्न भोक्तव्य नहीं है, वह अभक्ष्यके समान है—

केशवार्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते।
तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्ष्येण समं हि तत्॥

बहुत-से धनी व्यक्ति घरमें श्रीविग्रह तो रखते हैं, पर उनकी सेवा किसी औरसे कराते हैं, यह उत्तम-भक्ति नहीं है। यह आलस्य और श्रद्धाकी कमीका परिचायक है। अर्चन भगवद्भजनका प्रमुख अङ्ग है। इसलिये इसे प्रीतिपूर्वक अपने-आप ही करना चाहिये। 'विष्णुधर्म'में कहा गया है कि श्रीमूर्तिमें चित्तका सम्यक् आवेश रखते हुए उसे उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते सब समय अपने आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, अगल-बगल सर्वत्र उपस्थित जानकर उसका चिन्तन करते रहनेसे उसकी हृदयमें स्फूर्ति होती है—

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जंस्तामेवाग्रे च पृष्ठतः।
अप्यधस्तं तथा पार्श्वे चिन्तयंस्तामथात्मनः॥

अर्चनके समय भी बाह्यपूजाके साथ मानसिक पूजाकी विधि है। मानसिक पूजामें मन-ही-मन उसी प्रकार और उन्हीं उपचारोंसे पूजा की जाती है, जिस प्रकार और जिन उपचारोंसे बाह्यपूजा की जाती है। यदि कोई अशक्त हो और बाह्यपूजा न कर सके, तो उसके लिये केवल मानसिकपूजाका विधान है।

श्रीजीवगोस्वामीने अग्निपुराणका प्रमाण देते हुए लिखा है कि अशक्तावस्थामें पूजाके समय श्रीहरिका दर्शन करनेसे भी वही फल मिलता है, जो पूजा करनेसे मिलता है।[4]

भक्तके अपने घरमें श्रीमूर्तिकी पूजाकी विधि और देवालयोंमें पूजाकी विधि एक-जैसी नहीं है। देवालयोंमें सेवादिके नियमोंकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। घरमें स्वच्छन्दभावसे सेवा की जा सकती है। केवल साधकके वृत्तकी रक्षा होती रहनी चाहिये। देवालयोंमें जिस प्रकार जिस-जिस समय स्तव-स्तुति आदिका नियम है, उसका अविचलितभावसे पालन होना चाहिये। भोगके समय तथा परिमाण आदिके नियमका भी सदा पालन होना चाहिये। सभी सेवा'पराधों'से सदा सावधान रहना चाहिये। परंतु घरमें इन सब नियमोंका पालन करना नितान्त आवश्यक नहीं है। उतना ही आवश्यक है, जितना सम्भव है; सम्भव होनेपर भी न करनेमें दोष है।

नैवेद्य अर्पित करनेके सम्बन्धमें भगवान्का वचन है—'जो-जो द्रव्य समाजमें अत्युत्कृष्ट माने जाते हैं, जो मुझे और साधक दोनोंको प्रिय हैं, उन्हींको मुझे निवेदित करनेसे अनन्तफल लाभ होता है।' (श्रीमद्भाग० ११।११।४१) सनातनगोस्वामीने इसका भावार्थ यह किया है कि लौकिक बन्धुके समान ही भगवान्की सेवा करनी चाहिये। लौकिक व्यवहारमें हम अपने बन्धुको वही द्रव्य खिलाते हैं, जो उसे भी प्रिय हो और स्वयं अपनेको भी[5]। मुख्य बात यह है कि भगवान्को जो भी निवेदन किया जाय, वह सादर श्रद्धा एवं प्रीतिपूर्वक निवेदन किया जाय। भगवान् प्रीतिके ही भूखे हैं, द्रव्यके नहीं। प्रीति और भावपूर्वक जो कुछ भी उन्हें अर्पित किया जाता है, उसे वे कृपापूर्वक स्वीकार ही नहीं करते, अपितु प्रेमपूर्वक उसका आस्वादन भी करते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९। २६, श्रीमद्भागवत)

३. हरिभक्ति विलास ५। १२५ धृत स्कन्द-पुराण, कार्तिक माहात्म्यका वचन। ४. हरिभक्ति विलासी धृत आगम-प्रमाण। ५. भक्ति-संदर्भ २८३।

गीताका कर्मयोग—१८

[श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(लेखक—श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(गताङ्क ११, पृष्ठ-संख्या ४४९ से आगे)

समझने योग्य विशेष बात—संसारका कोई भी मनुष्य किसी अन्य प्राणि-पदार्थकी सहायताके बिना अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता—यह निश्चित बात है। अतएव उन सब प्राणी-पदार्थोंका हमपर ऋण है। उस ऋणसे मुक्त होनेके लिये अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा माता-पिता, परिवार, अतिथि, पशु-पक्षी, वृक्ष-देवता, पितर, ऋषि आदि सभीकी सेवा करना हमारे लिये अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है।

अपनी ओरसे कर्मयोगीको दूसरोंकी सहायता लेनेकी आवश्यकता नहीं रहती है; क्योंकि प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगका नाम ही कर्मयोग है। इसलिये दूसरेसे सहायता लेनेकी इच्छा ही नहीं होनी चाहिये। और बिना चाहे दूसरा उसकी सहायता-सेवा करे तो भी उसमें उसे प्रसन्न नहीं होना चाहिये; क्योंकि सुखभोग-बुद्धिसे दूसरेकी सहायता लेनेसे ही बन्धन होता है। इस प्रकार सेवा करनेसे अर्थात् अपने लिये कुछ न करने या चाहनेसे ऋण उतर जाता है और नित्य-प्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है।

मनुष्य सांसारिक पदार्थोंकी तरह परमात्माकी प्राप्तिको भी कर्मजन्य मान लेते हैं। वे ऐसा विचार करते हैं कि जब किसी बड़े (उच्चपदाधिकारी) मनुष्यसे मिलनेमें भी इतना परिश्रम करना पड़ता है, तब अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डनायक परमात्मासे मिलनेमें तो बहुत ही परिश्रम-तपस्या आदि करना पड़ेगा। वस्तुतः मूलमें यही साधककी सबसे बड़ी भूल है। कर्मजन्य सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिमें देश, काल, वस्तुसे हमारी दूरी होती है, परंतु परमात्मप्राप्तिमें देश-कालादिसे हमारी किञ्चिन्मात्र भी दूरी नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

> देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं।
> कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
> (मानस १। १८४। ३)

परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। हम ही (जड़तासे अपना सम्बन्ध मानकर) परमात्मासे विमुख हो जाते हैं। कर्मयोगके मार्गमें निष्कामभावपूर्वक कर्तव्यकर्म करनेसे जब जड़तासे सम्बन्धविच्छेद हो जाता है, तब स्वतः-सिद्ध परमात्म-तत्त्वका अनुभव हो जाता है। निष्काम-भाव केवल विहित-कर्मोंमें हो सकता है, निषिद्ध कर्मोंमें कदापि नहीं; क्योंकि निषिद्ध कर्म (कामनासे होनेके कारण) मनुष्यको स्वयं बलपूर्वक बाँधते हैं और फल देते हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार आदि सभी जड़ हैं। कर्मयोगी इन्हें संसारका मानकर संसारकी सेवामें लगा देता है।

अकर्मण्यता—आलस्यसे रहित होकर उत्साहपूर्वक तत्परतासे कर्तव्य-कर्मका आचरण करना ही कर्मयोगी-द्वारा अपने कहे जानेवाले शरीरको सेवामें लगाना है। किसीको बुरा न समझना, बुरा न चाहना, सबका हित चाहना और अपना कुछ भी न मानना और अपने लिये कुछ भी न चाहना—यह मन-बुद्धिका दूसरोंकी सेवामें लगाना है। और कर्तव्य रहे, किंतु कर्तव्यका अभिमानी न रहे यानी कर्तव्य-पालनके—अभिमानका सर्वथा न रहना ही अहंको सेवामें लगाना है। अहंका अन्त तभी सम्भव होगा जब यह ठीक तरहसे समझ लिया जाय कि जिन शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, पदार्थ, योग्यता आदिसे कर्तव्य-पालन किया है, वे सभी शरीर आदि उन्हींके थे, जिनके प्रति कर्तव्य-पालन किया है। जिनकी धरोहर थी उनको देना कोई विशेषता नहीं, बल्कि न देना बेईमानी

है; क्योंकि स्थूल शरीरसे स्थूल संसारकी, सूक्ष्म शरीरसे सूक्ष्म संसारकी, कारण शरीरसे कारण संसारकी जातीय एकता है। इस प्रकार समझकर कर्मयोगका आचरण करनेसे कर्तव्यका अभिमान नहीं रहता और अपने कहे जानेवाले पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंको संसारकी सेवामें लगा देनेपर उन-(शरीरादिको)से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार जड़ताका पूरा प्रवाह संसारकी ओर हो जानेपर नित्य-तत्त्व स्वतः शेष रह जाता है।

कामनाकी पूर्तिमें निष्कामभाव स्वतः आता है। जबतक इच्छित वस्तु नहीं मिलती तबतक उस वस्तुका चिन्तन रहनेके कारण मनसे सम्बन्ध बना रहता है। इच्छित वस्तुके मिलनेपर उस इच्छित वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वतः निष्कामताकी स्थिति प्राप्त होती है और उस समय एक सुखकी अनुभूति होती है। मनुष्य वस्तुके मिलनेसे ऐसी स्थितिकी अनुभूति मानता है, वास्तवमें जबकि वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ऐसा हुआ है, ऐसी मान्यतामें हेतु है भोगासक्ति। यदि साधक इधर ध्यान दे और इस बातकी गहराईमें जाय तथा विचार करे कि सुखकी प्रतीति वास्तवमें पदार्थोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे है या वस्तुकी प्राप्तिसे, तो उसको यथार्थ अनुभव हो सकता है कि सुखकी प्राप्ति वस्तुके सम्बन्धविच्छेदसे ही हुई है। फिर निष्कामभावको स्थायी बना सकता है; परंतु भोगासक्तिके कारण सम्बन्ध-विच्छेदके सुखको स्थायी न बनाकर एवं कामनाके अभावके सुखसे वञ्चित होकर पुनः नयी-नयी कामना कर मनुष्य बँधता ही जाता है। यही मनुष्यकी भूल होती है।

सम्बन्ध—सृष्टिचक्रके अनुसार चलने अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन करनेका उत्तरदायित्व मनुष्यपर ही है। अतः जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसकी भर्त्सना श्रीभगवान् अगले श्लोकमें करते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

भावार्थ—

हे पार्थ! जो मनुष्य इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रका अनुवर्तन नहीं करता अर्थात् अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला 'अघायुः' अर्थात् पापमय जीवनवाला है। ऐसा मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है। तात्पर्य है कि उसका मर जाना अच्छा है।

अन्वय—

पार्थ! यः इह एवम् प्रवर्तितम् चक्रम् न अनुवर्तयति सः इन्द्रियारामः अघायुः मोघम् जीवति ॥ १६ ॥

पद-व्याख्या—

पार्थ—हे पृथानन्दन!

यहाँ ९वें श्लोकमें प्रारम्भ किये हुए प्रकरणका उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् मानो प्रेमपूर्वक कह रहे हैं कि हे पार्थ! जिस युद्धको तू घोर कर्म कह रहा है, वह तेरे लिये घोर कर्म नहीं, अपितु यज्ञरूप है। इसको करना ही तेरे लिये सृष्टिचक्रके अनुसार बरतना है और इसको न करना सृष्टि-चक्रके अनुकूल न बरतना है। किन्तु तुम 'पृथानन्दन' हो, अतः तुमसे सृष्टिचक्रकी अवहेलना नहीं हो सकती।

यः—जो पुरुष। **इह**—इस लोकमें।

यहाँ 'इह' शब्दका तात्पर्य मनुष्यलोकसे है; क्योंकि मनुष्यपर ही सृष्टिचक्रके अनुसार बरतनेका दायित्व है।

एवम् प्रवर्तितम् चक्रम् न अनुवर्तयति—इस प्रकार (परम्परासे) चले हुए सृष्टिचक्रके अनुसार नहीं चलता।

जो मनुष्य पिछले श्लोकमें वर्णित सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता; वह समष्टि-सृष्टिके संचालनमें बाधा डालता है; वैसे ही जैसे रथके पहियेका छोटा-सा अंश टूट जानेपर रथके समस्त अङ्गोंको एवं उसपर बैठे रथी एवं सारथीको धक्का लगता है।

संसार और व्यक्ति दो (विजातीय) वस्तु नहीं हैं। जैसे शरीरका अङ्गोंके साथ एवं अङ्गोंका शरीरके साथ सम्बन्ध है, वैसे ही संसारका व्यक्तिके साथ, व्यक्तिका संसारके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, जब व्यक्ति आसक्ति, कामना, ममता

*

और अहंताका त्याग करके कर्तव्यका पालन करता है तो उससे सम्पूर्ण सृष्टिमें स्वतः सुख पहुँचता है।

सः—वह। **इन्द्रियारामः**—इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला।

'इन्द्रियाराम'का अर्थ है—केवल इन्द्रियोंद्वारा सुख भोगनेवाला। जो मनुष्य कामना, ममता, आसक्ति आदिसे युक्त होकर इन्द्रियोंके द्वारा भोग भोगता है, उसे यहाँ भोगोंमें रमण करनेवाला कहा गया है। ऐसा मनुष्य पशुसे भी नीचा है; क्योंकि पशु तो केवल पहले किये गये कर्मोंका फल भोगता है, जिससे कर्मफलके नाश होनेपर निर्मलताकी ओर जाता है, नये पाप नहीं करता; पर 'इन्द्रियाराम' मनुष्य नये-नये पाप करके अपना पतन तो करता ही है, सृष्टिचक्रमें बाधा उत्पन्न करके सम्पूर्ण सृष्टिको भी दुःख पहुँचाता है।

अधिक भोग भोगनेवाले मनुष्यको देखकर अभावग्रस्त मनुष्यके हृदयमें जो जलन होती है, उसका कारण यही है कि भोगी मनुष्योंने दूसरोंका अधिकार-सुख छीना है, चाहे उसने न्यायपूर्वक ही धन-सञ्चय क्यों न किया हो, पर उस धनसे सुख भोगनेवालेको दूसरोंके सुखका अंश लेना ही पड़ता है। इससे वह बच नहीं सकता; क्योंकि बिना हिंसाके कोई भोग सिद्ध नहीं होता। अपने लिये भोग भोगनेसे दूसरोंके हृदयमें दाह—जलन पैदा हुई तो हिंसा हुई, अपना स्वभाव खराब हुआ तो अपने स्वभावकी हिंसा हुई एवं भोग-प्राप्तिके कारणभूत पुण्योंके नाश होनेपर पुण्योंकी हिंसा की। इस प्रकार न जाने कितनी हिंसाएँ होती हैं, जिनकी गणना कहाँतक की जाय। वह दूसरोंके सुखका जितना अंश लेता है, उतना वह पाप करता ही है, चाहे वह जीवनभर अन्य पाप करे ही नहीं।

अघायुः—पापमय पुरुष।

इस पदका तात्पर्य है कि सृष्टिचक्रके अनुसार न चलनेवाले मनुष्यकी आयु, उसका जीवन केवल पापमय है। ऐसा मनुष्य सब कर्म कामनापूर्वक करता है। कामना सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है (गीता ३। ३७) गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी (मानस ७। ३९ में) लिखते हैं—

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

मोघम् जीवति—(संसारमें) व्यर्थ (ही) जीता है।

अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाले मनुष्यकी भगवान् सभ्य भाषामें निन्दा या भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि ऐसा मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है अर्थात् वह मर जाय तो अच्छा है। तात्पर्य यह है कि यदि वह अपने कर्तव्यका पालन करके सृष्टिको सुख नहीं पहुँचाता, तो कम-से-कम सृष्टिको दुःख तो न पहुँचावे।

सृष्टिचक्रका अनुवर्तन न करनेवाले मनुष्यके लिये भगवान्ने पहले **'स्तेन एव सः'** (गीता ३। १२) (वह चोर ही है) और **'भुञ्जते ते त्वघम्'** (गीता ३। १३) (वे तो पापको ही खाते हैं) कहा और इस श्लोकमें **'अघायुरिन्द्रियारामः'** (पापायु और इन्द्रियाराम) कहकर उसके जीनेको ही व्यर्थ बतलाते हैं।

जैसे भगवान् श्रीरामके वनवासके समय अयोध्या-वासियोंके चित्रकूट आनेपर कोल, किरात और भील—जंगली लोगोंने उनसे कहा था कि हम आपके वस्त्र और बर्तन नहीं चुरा लेते, यही हमारी बड़ी भारी सेवा है*, ऐसा ही भगवान् यहाँ कहते हैं कि वे मनुष्य सृष्टिचक्रमें बाधा न डालें, तो यह उनकी सेवा ही है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी (मानस १। ११२। ३ में) कहा है—

जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहि आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥

तथा—

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥
उदय केत सम हित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके॥

अभिप्राय यह है कि ऐसे लोग पृथ्वीपर भाररूप ही हैं।

(क्रमशः)

* यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥ (मानस २। २५०। २)

स्वर्ग नहीं चाहिये मुझे

[एक निष्काम कर्मयोगीका पौराणिक-आख्यान]

(लेखक—स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज)

'कोई है ! मैं यहाँ आया हूँ ।'—आम्रकुञ्जोंके मध्य निर्मित पर्णकुटीमेंसे आश्रम-वातावरणके प्रतिकूल कर्कश वाणी सुनकर तृणगुच्छोंकी मेखलाका कौपीन धारण किये एक कृशकाय महापुरुष बाहर आये । देखा, ऋषि-वेषमें क्रोधकी साकार प्रतिमूर्ति समक्ष उपस्थित है ।

'स्वागत है ऋषिराज ! अंदर पधारकर पाद्य-अर्घ्य स्वीकार कीजिये । मुझ अकिञ्चनके पास जो कुछ भिक्षा उपलब्ध है, उसे भी ग्रहण करें देव !'

'मुझे खिलायेगा तू ? भिखारी कहींका । स्वयं तो भरपेट खा नहीं पाता और मुझे निमन्त्रण दे रहा है ।'

'प्रतिदिन भले ही न मिलता हो भगवन् ! परंतु आज तो कपोत-वृत्तिसे संगृहीत धान्य कुटियामें है ।' आतिथेय-ने विनम्र कोमल स्वरमें कहा—

'अच्छा, तो जो कुछ है, शीघ्र ले आ ।'

दुर्वासाने एकत्र सभी खाद्य-सामग्री खाकर तृप्ति-की डकार ली और चलते बने । इधर तप:सिद्ध, जितेन्द्रिय महर्षि मुद्गल अपने दैनिक कर्ममें संलग्न हो गये । पंद्रह दिनों भूखे रहकर उसी कपोत-वृत्तिसे (खेत कट जानेके पश्चात् धरतीमें पड़ा हुआ) अन्न संग्रह किया और सोलहवें दिन पुनः दुर्वासा आकर समस्त अन्नकोष समाप्त कर गये । यह क्रम छः पखवाड़ेतक चलता रहा । शरीर सूखकर काँटा हो गया, किंतु उस महा-पुरुषके मुखपर सर्वात्मसमर्पणके भाव अनवरत बने रहे । न क्षोभ, न ईर्ष्या, न क्रोध और न पश्चात्ताप । केवल दुःख था तो इसी बातका कि अनेक वर्षोंसे उनके जीवनका जो क्रम चल रहा था, उसमें व्यवधान हो गया था । अनेक असहाय वनवासीजन अब उनके द्वारा संगृहीत अन्नसे लाभान्वित नहीं हो रहे थे, बस, यही खटक रहा था ।

इस महापुरुषके निष्कामधर्मपरायणताकी ख्याति अपनी जन्मभूमि कुरुक्षेत्रतक ही सीमित न रही; अपितु उसका आलोक दिग्-दिगन्तमें फैल गया; देवलोक भी इससे अछूता न रहा । महर्षि दुर्वासाने तो उनके धैर्य और निष्कामसेवामें निष्ठाकी परीक्षाहेतु ही यह कठोर षड्यन्त्र रचा था । अन्तिम बार जब वे इस महापुरुषके समक्ष उपस्थित हुए तो वे स्वयं सन्तापपीड़ित थे—'मुद्गल ! तुम उत्तीर्ण हुए । केवल मेरे द्वारा ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व एवं देवलोकमें भी तुम्हारी प्रशंसाके गीत गाये जा रहे हैं । तुम्हें स्वर्गमें ले जानेके लिये विमान आ रहा है ।'—दुर्वासाने आश्वस्त स्वरमें कहा ।

देखते-ही-देखते एक अलौकिक दिव्य आभायुक्त विमान कुटियाके समक्ष आ उपस्थित हुआ ।

'ब्रह्मर्षे ! आपने अपने निष्कामसेवा-कर्मद्वारा स्वर्गके देवताओंको भी अत्यन्त प्रसन्न कर दिया है । वे आपके स्वागतार्थ अपलक प्रतीक्षातुर हैं । सदेह स्वर्गारोहण-हेतु विमान प्रस्तुत है । विराजमान होइये इसमें ।' देवदूतने विनीत भावसे निवेदन किया ।

मुद्गलने धीरता और विनम्रतासे पूछा—'देवदूत ! देवताओंका आग्रह स्वीकार करानेके पूर्व कृपया यह बतानेका अनुग्रह कीजिये कि मेरी इस परम पुनीत धरामें और स्वर्गमें क्या अन्तर है ? तथा स्वर्गमें निवास करनेवाले देवताओं-के गुण क्या हैं ? क्या स्वर्गमें कोई दोष भी है ?'

देवदूतने शालीनतापूर्वक प्रत्युत्तर दिया—'ब्रह्मर्षि ! क्या आपने कभी स्वर्गका नाम नहीं सुना ? जहाँ कल्पवृक्ष है, कामधेनु है, रम्भा और उर्वशी-जैसी अप्सराएँ हैं । मनुष्यके शुभकर्मोंके उपहारस्वरूप वहाँ मनोवाञ्छित सभी

साधन उपलब्ध हैं। आप-जैसे धर्मात्मा ही वहाँ प्रवेश पाते हैं। धरतीके वासी जिस सुखकी कामनाके लिये साधना एवं तपस्या करते हैं, वह वहाँ सहज ही मिल जाती है।

'धन्य है, उस भोगभूमिको! पर यह तो गुण हुए और दोष?'—मुद्गलने उत्सुकतापूर्वक पूछा।

देवदूतने कहा—'वहाँ मनुष्य पूर्वार्जित कर्म-फल ही भोगता है। स्वर्गमें कर्म नहीं करना पड़ता। संचित शुभकर्म भोगके साथ तिरोहित होते रहते हैं और समस्त कर्मोंके अनुपातसे जब भोग बराबर हो जाते हैं, तब उसे पुनः पृथ्वीपर आना पड़ता है। वहाँसे माँके गर्भकी प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है। बस, यही स्वर्गका एकमात्र दोष है।

महर्षि मुद्गलका मुखमण्डल आश्चर्यचकित देवदूतको निहार रहा था। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर विमानको नमस्कार करते हुए देवदूतसे कहा—'क्षमा करो भाई! जब वहाँ जाकर भी पुनः यहाँ आना ही है तब अपनी इस शस्यश्यामला धरतीको ही क्यों छोड़ूँ? और फिर तुमने बताया कि वहाँ कर्म नहीं किया जाता। तो भाई! बिना कर्मके मैं वहाँ समय कैसे बिताऊँगा? मृतकोंकी भाँति पड़े रहना मुझे अभीष्ट नहीं। जाओ भाई! जाओ!! मेरे लिये ऐसे स्वर्गकी क्या उपादेयता और फिर मुझे इन निराश्रितोंके लिये अभी अन्न-संग्रहहेतु खेतोंमें भी तो जाना है। उनका यहाँ मेरे सिवा कौन अवलम्बन है?'—कहते हुए महर्षि मुद्गल अपनी कुटियामें चले गये।

महर्षि दुर्वासा और देवदूत हतप्रभ आश्चर्यस्तब्ध, प्रशंसदृष्टिसे उस निष्काम कर्मयोगीको देखते रहे।

स्वर्गत्यागके फलस्वरूप ज्ञानरूप निर्वाणकी प्राप्ति

अपने पुत्रको राज्य देकर स्वयं वीतराग हो राजा अरिष्टनेमिने गन्धमादन पर्वतपर जाकर ज्यों ही दुस्तर तपस्या आरम्भ की, त्योंही देवराज इन्द्रने एक देवदूतको अप्सराओंके साथ एक विमान लेकर जानेका आदेश दिया और राजाको स्वर्ग ले आनेकी आज्ञा दी। इसपर दूत गाजे-बाजे और अप्सराओंके साथ राजा अरिष्टनेमिके आश्रमपर गया और उन्हें देवराज इन्द्रकी विज्ञप्ति सुनायी। राजा दूतकी बातें सुनकर संदेहमें पड़ गये और बोले—'देवदूत! आप मुझे यह बतलायें कि स्वर्गके क्या-क्या गुण और दोष हैं? उन्हें आप सुस्पष्ट करें यह जाननेके पश्चात् मेरी जैसी रुचि होगी, वैसा करूँगा।' दूत बोला—'राजन्! स्वर्गमें जीव अपने पुण्यानुसार उत्तम पुण्यसे उत्तम, मध्यम पुण्यसे मध्यम और निम्न-कोटिके पुण्यसे निम्नकोटिके स्वर्ग-सुखका भोग करता है। वहाँ भी परोत्कर्ष असह्य होता है। समान स्थितिवाले भी परस्पर स्पर्धा करते हैं। स्वर्गमें वे तभीतक रहते हैं, जबतक उनके पुण्योंकी समाप्ति नहीं हो जाती। पुण्यक्षय होनेपर वे पुनः जन्म पाते हैं। राजन्! स्वर्गमें इसी तरहसे गुण और दोष दोनों ही विद्यमान हैं।'

दूतकी बात सुनकर राजाने कहा—'देवदूत! जहाँ ऐसी स्थिति है, उस स्वर्गमें जाकर मैं क्या करूँगा? आप विमानको लेकर इन्द्रके पास वापस चले जाइये। आपको नमस्कार है।' राजाकी बात सुनकर दूत इन्द्रके पास लौट गया। देवराजको यह सुनकर आश्चर्य हुआ और उससे कहा—'दूत! तुम वहाँ पुनः जाओ और उन विरक्त राजाको आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें ले जाओ। उनसे मेरा यह संदेश कहना कि महामुने! आप इन वीतराग तथा स्वर्गकी इच्छा न रखनेवाले राजाको ज्ञानका उपदेश कीजिये। ये आपके दिये उपदेशसे मोक्ष प्राप्त करेंगे।' दूतने वैसा ही किया। वाल्मीकिजीने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजासे कुशल-प्रश्न पूछा।' राजाने कहा—'भगवन्! आप पूर्ण ज्ञानी हैं। आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया—यही मेरी कुशलता है। मैं आपसे मुक्तिका उपाय जानना चाहता हूँ। आप कृपा-पूर्वक उसे बताइये।' इसपर महर्षि वाल्मीकिने रामायणकी उन्हें सम्पूर्ण योगवासिष्ठ सुनाया, जिससे उन्हें जीवन्मुक्ति एवं निर्वाणपद प्राप्त हो गया। (यो० वा०)]

श्रीरामकी विनयशीलता

(लेखक—श्रीउलफतसिंहजी चौहान, 'निर्भय')

श्रीराम पराक्रमी हैं, किंतु उनके पराक्रमका निखार उनकी निरभिमानता एवं विनयशीलतामें निहित दृष्ट है। वे अपने शौर्य एवं पराक्रमपर गर्व नहीं करते और उसका कहीं उल्लेख भी नहीं करते। वे विचार एवं व्यवहारमें अत्यन्त मृदु हैं। जैसे कविकुलशिरोमणि संत तुलसीदासजी स्वयं उत्कृष्ट कवि होकर भी अपनी विनम्रताका परिचय देते हैं, वैसे ही उनके उपास्य श्रीराम सर्वगुणसम्पन्न होकर भी परम विनयशील हैं। महर्षि वाल्मीकिके अनुसार श्रीराम आत्मवत्ताके कारण ही विनीत थे, अन्यथा भौतिक स्तरपर सामर्थ्यहीनकी दीनता तथा विनयशीलता तो एक प्रकारसे कायरता ही है। किंतु आध्यात्मिक स्तरपर मनोनिग्रहजन्य दीनता आन्तरिक दृढ़ताकी परिचायक होती है। दीनता संतोंकी गुण-प्रकर्षण होती है। दीनता (विनम्रता)का मुखौटा धारण कर लेना सरल है, किंतु दीन होना बड़ा कठिन है। आध्यात्मिक स्तरपर दीनताका अर्थ है—निरभिमान होना, निरहंकार होना। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी दीनता भी ऐसी ही थी। वे अपने विषयमें लिखते हैं—

कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
आखर अरथ अलंकृत नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥

साधारणतया प्रभुता पाकर अथवा पराक्रम दिखाकर मनुष्योंमें मदमत्तता आ जाती है और वे अपने गौरवका वर्णन स्वयं करने लगते हैं—

'श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।'

किंतु श्रीराम तो परम विनीत हैं।

ठीक इसके विपरीत अहंकार-मदमत्त रावण स्वमुख-प्रशंसामें दक्ष है, जब कि राम सदा विनयी एवं सर्वथा अहंकारशून्य हैं। रावण अंगदसे कहता है—

सुनु सठ सोइ रावन बलसीला। हरगिरि जान जासु भुज लीला॥
जान उमापति जासु सुराई। पूजेउँ जेहि सिर सुमन चढ़ाई॥
सिर सरोज निज करन्हि उतारी। पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी॥
भुज बिक्रम जानहिं दिगपाला। सठ अजहूँ जिन्ह के उर साला॥
जानहिं दिग्गज उर कठिनाई। जब जब भिरउँ जाइ बरिआई॥
जिन्ह के दसन कराल न फूटे। उर लागत मूलक इव टूटे॥
जासु चलत डोलति इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी॥
सोइ रावन जग बिदित प्रतापी। सुनेसि न स्रवन अलीक प्रलापी॥

इसी प्रसङ्गमें वह आगे कहता जाता है—

कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि।
मोर पराक्रम नहिं सुनेहि जितेउँ चराचर झारि॥
सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहिं सीस।
हुने अनल अति हरष बहु बार साखि गौरीस॥
जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला। बिधि के लिखे अंक निज भाला॥
नर कें कर आपन बध बाँची। हसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥

स्वमुख-प्रशंसा मनुष्यकी लघुताको सिद्ध करती है—

'इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयंप्रख्यापितैर्गुणैः।'

स्वयं अपनी प्रशंसा करनेसे इन्द्र भी लघुताको प्राप्त हो जाते हैं। उग्र परशुरामके गर्वीले शब्दोंको सुनकर राम आत्मपरिचय देते हुए कहते हैं—

राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥

दूसरोंको बड़प्पन देने तथा स्वयंको लघु माननेकी यह कैसी अद्भुत विनम्रता है श्रीराम की! वे युद्ध-स्थलपर स्वयं ही नीतिका वर्णन करते हैं—जो वृक्ष क्रमशः गुलाब, आम और कटहलके समान होते हैं उनमेंसे गुलाब-जैसे एक तो फूल देते हैं, एक (आम-जैसे) फूल तथा फल दोनों देते हैं और एक कटहल-जैसोंमें केवल फल ही लगते हैं। इसी तरह मनुष्योंमें भी एक कहते हैं, पर करते नहीं, दूसरे कहते हैं और करते भी हैं तथा तीसरे जो श्रेष्ठ हैं, वे केवल करते हैं, उसे वाणीसे प्रकट नहीं करते।

पराक्रमी राम अपने पराक्रमका स्वयं कभी वर्णन नहीं करते, अपितु अन्य जनोंके द्वारा अपनी प्रशंसा होनेपर भी संकोचका ही अनुभव करते हैं। श्रीरामकी माताएँ भी उन्हें शालीनता एवं निरभिमानताका पाठ सिखाती हैं। वे कहती हैं कि यज्ञ-रक्षाके लिये सीता-स्वयंवरमें धनुष उठानेवाले रामकी सफलताका कारण तो मुनि-की कृपा है—

देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥
मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥
घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहिं नहिं काहु।
मारे सहित सहाय किमि, खल मारीच सुबाहु॥
मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥
मख रखवारी करि दुहुँ भाई। गुरु प्रसाद सब विद्या पाई॥
मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥
कमठ पीठि पबि कूट कठोरा। नृप समाज महुँ सिव धनु तोरा॥
बिस्व बिजय जसु जानकि पाई। आए भवन ब्याहि सब भाई॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपाँ सुधारे॥

परम बलवान् रावणका वध करनेपर उसका श्रेय भी श्रीराम स्वयं नहीं लेते। भालुओं एवं कपियोंको इस महान् कार्यके सम्पादनका यश देते हुए राम उनसे कहते हैं—'तुम्हरे बल मैं रावन मार्यौ।' राम अपनेको निमित्तमात्र मानते हैं, अन्यथा बल तो मानो भालुओं एवं कपियोंका ही था।

संग्राम-विजयके पश्चात् पुष्पकविमानपर बैठकर श्रीराम जानकीसे लक्ष्मण, हनुमान्, अंगद आदिके शौर्यकी प्रशंसा करते हैं। किंतु यह नहीं कहते कि मैंने दैत्यराज रावण और कुम्भकर्णका वध किया। उनके वधकी चर्चा कर्मवाच्यमें करते हुए उसकी गौणता ही प्रदर्शित करते हैं तथा उसका श्रेय स्वयं नहीं लेते—

कह रघुबीर देखु रन सीता। लछिमन इहाँ हत्यो इंद्रजीता॥
हनूमान अंगद के मारे। रन महि परे निसाचर भारे॥
कुंभकरन रावन द्वौ भाई। इहाँ हते सुर मुनि दुखदाई॥

अयोध्या वापस आनेपर उन्होंने सब सखाओंको बुलाकर उनसे मुनिकी अर्चना करायी तथा उन्हें ही अपनी सफलताका यश देते हुए वे कहते हैं—

गुरु बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपा दनुज रन मारे॥

उसी स्थलपर वे मुनिसे इन्हीं कपियोंकी प्रशंसा करते हुए अपनी कृतज्ञताका प्रकाशन करते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥

श्रीराम हनूमान्‌जीसे कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करउँ का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

राम 'मानद-अमानी' हैं, सबको मान देना तथा स्वयं 'अमानी' रहना विनयमूर्ति रामकी विशेषता है। 'अमानी'-जनकी प्रशंसा करते हुए राम कहते हैं—

सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥

वे सत्ताधारी होकर अपने आश्रितजनको सदैव आदर देते हैं—

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील निधान॥

श्रीराम वृक्षोंकी शाखाओंपर कूदनेवाले वानरोंको अपने समान बताकर उनके साथ सखाका-सा व्यवहार करते हैं। धन्य है 'पराक्रमी राम'का शील, स्नेह तथा सबके प्रति सौहार्द्र और उनकी विनयशीलता! रावणके वधके पश्चात् वे विभीषणको रावणकी अन्त्येष्टि-क्रिया-संस्कार करनेका आदेश देते हैं—

'करहु क्रिया परिहरि सब सोका।'

उन्होंने अन्यायके प्रतिरोधमें तथा न्यायके समर्थनमें पवित्रभावसे आततायी जनोंको दण्ड तो दिया, किंतु उनका अपमान कभी न किया और न उनका बुरा ही सोचा। नीतिकुशल श्रीरामने जब अङ्गदको दूत बनाकर रावणके पास भेजा तो उन्होंने अपने कार्य-सम्पादनके साथ रावणके हितकी बात भी उन्हें समझा दी थी।

'काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

शत्रुकी भी भलाईकी बात भला रामके सिवा और कौन सोच सकता है ? इसीलिये तो—

'अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।' तथा—'बैरिहु राम बड़ाई करहीं' कहा गया है। श्रीराम रावणके राज्यको हड़प नहीं लेते और न रावणसे व्यक्तिगत शत्रुता मानकर उससे घृणा ही करते हैं। वे सिद्धान्त एवं मर्यादाकी रक्षाके लिये युद्ध करते हैं। उनमें दर्पजनित दुःशीलता नहीं है।

धर्मका पुट आनेपर राजनीति लोक-कल्याणकारिणी हो जाती है और इसके विपरीत जब घिनौने राजमदके कारण धर्म दुष्ट राजाकी दुर्नीतिके कारण उसका दास हो जाता है, तब समाजमें सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच जाती है। श्रीराम लोकरञ्जनको ही आत्मरञ्जन मानते हैं तथा राजसिंहासनपर भी वे मानो तपस्या ही कर रहे थे। आत्मोत्सर्ग एवं त्यागका ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करके भी वे परम विनम्र थे। इसका मूल कारण था उनका आत्मवान् होना। धन्य है—'श्रीराम'की आत्मवत्ता एवं विनयशीलता।

सूर-पञ्चशतीके उपलक्ष्यमें—

महाकवि सूरदासकी उपासना-पद्धति

(३)

(लेखक—श्रीसन्हैयालालजी ओझा, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

(गताङ्क ११, पृष्ठ-संख्या ४५४से आगे)

रति-भावकी आत्यन्तिक गम्भीरता विरहमें ही प्राप्त होती है। जीव और ब्रह्मका प्रकट नाता विरहका ही है। कृष्ण जब व्रज छोड़कर मथुरा जा बसते हैं, तब व्रजवासियोंकी विरहदशा इतनी विषम हो जाती है कि—

तब तैं मिटै सब आनंद।
या ब्रज के सब भाग संपदा, लै जु गए नँदनंद॥
बिह्वल भई जसोदा डोलति, दुखित नंद उपनंद।
धेनु नहीं पय स्रवति, रुचिर मुख, चरति नहीं तृण कंद॥
बिषम बियोग दहत उर सजनी, बाढ़ि रहे दुखदंद।
(सूरसा० दशम-स्कन्ध)

—देवकीके प्रति वियोगिनी यशोदाके निम्नस्थ संदेशसे किस माँका कलेजा न हिल जायेगा ?

संदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ॥
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतैं माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती, क्रम-क्रम करि कै न्हाते॥
'सूर' पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन, बढ़्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वैहै करत सँकोच॥
(दशम स्कन्ध)

इतना ही नहीं, श्रीकृष्णके वियोगमें सब कुछ विपरीत और परिवर्तनीय लगता है। देखियति कालिन्दी अति कारी। और—

मदन गुपाल बिना या ब्रज की सबै बात बदली।
× × × ×
ब्रज मैं वै उनहार नहीं।
ब्रज सब गोप रहे, हरि बिनहीं, स्वाद न दूध-दही॥

गोपियाँ व्यथित होकर सोचती हैं कि वे गोपालसे हास-परिहास तथा व्यङ्ग्य-विनोद किया करती थीं, कहीं इसलिये तो वे रूठकर नहीं चले गये ?—

फिरि ब्रज आइयै गोपाल।
नंद-नृपति कुमार कहिहैं, अब न कहिहैं ग्वाल॥

उनकी अनुपस्थितिमें रात्रि भी 'काल-रात्रि'—विषैली नागिन-सदृश भयावनी लगती है—

पिय-बिनु नागिनि कारी रात ।
जो कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात ॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात ।
'सूर' स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि-मुरि लहरैं खात ॥
(दशम स्कन्ध)

कहते हैं कि नागिन किसीको डस लेती है तो उसे भी विष चढ़ता है और वह उलटी लोट-पोट कर ही उसका शमन करती है । नागिनके उल्टी होनेपर जो उसका सफेद पेट दिखायी देता है, वही मानो काली रात है, जिसमें चाँदनी उदित हो आयी है, अर्थात् वही काल-सर्पिणी विरहिणीको डसकर उलट गयी हैं ।

विरहकी व्यथाका मर्म तो उद्धवके ब्रज-आगमनपर प्रकट होता है । सूरदासका 'भ्रमरगीत' एक अप्रतिम विरह-काव्य है । भ्रमरको लक्ष्यकर उद्धवके प्रति गोपियोंने जो कुछ व्यक्त किया है, उसकी तुलना अन्यत्र कहीं नहीं मिलती । उसमें भी गोपियोंने निर्गुण-ब्रह्मको कहीं अस्वीकार नहीं किया, तर्ककी अपेक्षा भावनाकी गम्भीरतासे उन्होंने यही स्पष्ट किया कि—

जोग जुगति हम कछु न जानैं ना कछु ब्रह्मज्ञानौ ।
नवकिसोर मोहन मृदु मूरति, तासौं मन उरझानौ ॥
भली करी तुम आए उधौ, देखौ दसा बिचारी ।
दाउँ उपाउ मिलाइ 'सूर' प्रभु आरति हरौ हमारी ॥
(दशम स्कन्ध)

अथवा—हमकौं हरिकी कथा सुनाउ । और फिर—

ऊधौ तुम ब्रजकी दसा बिचारौ ।
ता पाछैं यह सिद्धि आपनी, जोग कथा बिस्तारौ ।

और यह भी कह देती हैं कि 'सुनो ऊधौ, 'तुम्हारी जोग ठगौरी ब्रजमें नहीं चलेगी ।'

मूरी के पातन के बदलैं मुक्ताफल को दैहै ।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै ॥
गुन करि मोही सूर साँवरै, को निरगुन निरबैहै ।

उद्धवको बिदा करते समय यशोदाके विरही हृदयके उद्‌गारका एक चित्र देखिये—

कहियौ जसुमति की आसीस ।
जहाँ रहौ तहँ नंद लाड़िलौ जीवौ कोटि बरीस ॥
मुरली दई, दोहनी घृत भरि, ऊधौ धरि लइ सीस ।
यह तो घृत उनही सुरभिनि कौ जे प्यारी जगदीस ॥
(दशम स्कन्ध)

ब्रजवासियोंके इस अप्रतिम, एकाङ्गी प्रेमका अनुभव करके मथुरा पहुँचकर उद्धवको कृष्णके प्रति कहना पड़ा—

फिरि ब्रज बसौ नंदकुमार ।
हरि तिहारे बिरह राधा, भई तन जरि छार ॥

इन पङ्क्तियोंमें उद्धवके हृदयकी व्यथाके साथ श्रीकृष्णसे उनका अनुरोध भाव भी स्पष्ट है । ब्रजसे लौटनेके बाद तो स्वयं उद्धवकी विचित्र स्थितिका एक शब्द-चित्र—

माधौ जू जोग को बोझ भह्यौ ।
स्याम सुमुख बिधु-बचन-सुधा रस, सो पुनि कछु न कह्यौ ॥
नव-नव भाव तरंग महोदधि, सखि लोचन उमह्यौ ।
तुम जो कह्यौ ज्ञानकौ मारग पानी ह्वै सु बह्यौ ॥
सकल सिंगार हार रस सरबस, ब्रज नवनीत लह्यौ ।
छूँछे भाँड़े परयौ न पावै लिखि तुम दियो मह्यौ ॥
मोहिं आचरज एक पै लागत, तुम पै जात सह्यौ ।
'सूर' स्याम सुनि सखा सयानौ, लै भुज बीच गह्यौ ॥
(वही)

सूर-जैसे भक्त कवि अपने समस्त 'स्व'को कृष्णार्पण करके ही पद-रचना करते थे । वे अन्तर्मनकी ऐसी ऊँची और दिव्यस्थितिमें होते थे कि कविता स्वतः स्फूर्त होती थी । वह एक अद्भुत दिव्य समाधिकी अवस्था होती है, जिसमें बाह्य लौकिक लीलाओंके आयाम पर-ब्रह्मके अति दिव्य व्यापारोंका संकेत करते रहते हैं । देखिये एक भावमय चित्र—

जब मोहन कर गही मथानी ।
परसत कर दधि,माट,नेति,चित उदधि, सैल, बासु भय मानी॥

सूरका यह काव्य-चित्र क्या सहज ही ब्रह्मके दिव्य चिरन्तन दधिमन्थनका संकेत नहीं देता ? यह महाकवि

सूरदास-जैसे श्रेष्ठ भक्त-कविकी ही प्रतिभा है कि इस जगत्में—जागतिक व्यापारोंमें हम उस अलौकिक दिव्य तत्त्वके, सगुण-साकार रूपके दर्शन करनेकी क्षमता पाते हैं। कवयित्री महादेवी वर्माने एक जगह यह बात ठीक ही सच ही कही है कि 'सूरने हिन्दू-समाजमें प्रत्येक बालकको कृष्णके रूपमें और प्रत्येक माताको यशोदाके रूपमें देखने और अनुभव करनेकी दिव्यदृष्टि दी है और यह देन कोई सामान्य देन नहीं है।'

कृष्णकी आसक्ति समस्त व्रजका केन्द्र हो गयी है। यशोदा और नन्दकी आँखोंके वे तारे हैं, ग्वाल-बालोंके अन्यतम सखा, गोपियों और वृषभानुकुमारीके हृदयेश्वर, सूरदासके सर्वस्व स्वामी व्रजवल्लभ लीला-निकेतन भगवान् कृष्णके बिना व्रजकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। किंतु क्या यह आसक्ति उस लीलाधामको भी कहीं बाँध सकी?—वह तो एक सहज लीला थी, एक कौतुक मात्र था भगवान्का, उस परब्रह्मका जो जीवको अपने परम लक्ष्य—सायुज्यधाम प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करनेके लिये रचा गया था। कृष्णके जीवनका जितना भाग एक दुर्निवार आसक्तिके प्रभामण्डलसे आपूर्ण रहा, उतनी ही तीव्र अनासक्ति भी उन्होंने अपने जीवनमें अभिव्यक्त की। जन्म उन्होंने वसुदेवके यहाँ देवकीके गर्भमें लिया, किंतु गर्भस्थ सम्बन्धकी समस्त आसक्तिका परित्याग कर उन्होंने नन्द और यशोदाके आँगनकी शोभा बढ़ायी। गोकुल-वृन्दावनमें बालकेलि की, गोपियोंके चीरहरण कर उनके साथ रास रचा, राधाकी अप्रतिम भक्ति और प्रणयका लक्ष्य बने, किंतु जब एक बार गोकुल छोड़ा तो पीछे फिर मुँह मोड़कर न देखा। मथुराका राज्य जीता, पर उसका लाभ दिया बलरामको और फिर जरासंधके आक्रमणोंसे कुल-रक्षाके लिये मथुराका भी त्याग कर द्वारका बसायी तो फिर मथुराका नाम नहीं लिया। महाभारतके बाद अपने ही मदान्ध यदुवंशका नाश भी उन्होंने उसी अनासक्त भावसे अपनी उसी लीलाशक्ति (योगमाया) द्वारा कराया और उसे फिर उसी निर्लिप्त भावसे देखा भी। प्रारम्भिक जीवनकी वह अभेद्य आसक्ति उनके उत्तर-जीवनकी अनासक्तिके साथ मिल कर जिस लोकोत्तर चरित्रकी सृष्टि करती है, उसे सामान्य जगत्के लौकिक पैमानोंसे कैसे समझा जा सकता है?

भक्तिके पाँच रूप बताये गये हैं। गौड़ीय सम्प्रदायके सुप्रतिष्ठित आचार्य श्रीरूपगोस्वामीने अपने ग्रन्थ—'उज्ज्वल-नीलमणि'में इन्हें इस प्रकार गिनाया है—शान्ति, प्रेम-वात्सल्य और माधुर्य। माधुर्यको ही उन्होंने उज्ज्वलरस कहकर अभिहित किया और इसीमें शृङ्गारका पूर्ण अन्तर्भाव माना है। महाकवि सूरदासकी समस्त रचनाएँ शृङ्गार-रसकी अथवा माधुर्य भावसे युक्त मधुर रससे संसिक्त हैं।

राधा-कृष्णको आधार बनाकर मध्ययुगके परवर्ती अनेक कवियोंने भी शृङ्गार-रसकी रचनाएँ की हैं, किंतु वे सूरदासकी पावन भक्ति-भावनाको छू भी नहीं पायीं। उनके काव्यमें राधा-कृष्णका केवल नाममात्र है। सूर-जैसी भावप्रवणता—स्वाभाविक अभिव्यञ्जना तथा मार्मिकताका वहाँ सर्वथा अभाव है। यद्यपि सूरने भी षट्ऋतुवर्णन और नख-शिख-वर्णनकी परम्परा कहीं-कहीं निभायी है, किंतु उनके वर्णन सदा हृदयमें एक सात्त्विक भावमयी भक्तिका ही उद्रेक करते हैं। उन्होंने अपने आराध्यका शृङ्गार-वर्णन करनेके पूर्व भगवदनुग्रहकी अग्निसे हृदयकी समस्त वासनाको जलाकर अपने अन्तर्मनको शुद्ध कर लिया था। इसके अतिरिक्त संयोग-शृङ्गारके वर्णनका उनका एकमात्र लक्ष्य कृष्णके अलौकिक माधुर्य और लीलाओंका गुणगान करना ही था। इसकी सहज प्रतीति उनके विरह-काव्यमें इतनी स्पष्ट हुई है कि उसकी गरिमा अनायास पाठकोंके हृदयको स्पर्शकर तप्त काञ्चन बना देती है। एक महान् काव्यकी यही कसौटी है। सूरके दीक्षागुरु महाप्रभु वल्लभाचार्यने परम माधुर्यमय लीलाधाम श्रीकृष्णको और उनके आसपास समस्त चराचरको माधुर्यमय ही तो देखा था, जिसका प्रभाव शिष्यके भावुक

हृदयपर पड़े बिना भला कैसे रहता ? आचार्य वल्लभकी माधुर्य-प्रेम-पूरित भक्तिका सार था—

गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम्।
हृष्टं मधुरं सृष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥

इस माधुर्यभावके आकर्षणसे भी जो लोग कृष्णका ध्यान करेंगे उनका भी परम कल्याण होगा—यही हमारे प्राकृत कविका लक्ष्य रहा है, जिससे उन्होंने माधुर्यका समुचित उद्घाटन किया है। सूरकी साधना तथा उपासना-पद्धतिका यही मर्म है। उन्होंने **'स्वान्तः सुखाय'**के साथ जनमानसको भी श्रीकृष्ण-भक्तिकी ओर आकर्षित करनेके लिये काव्य तथा संगीतका आलम्बन लिया। अपने इस उद्देश्यमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। सूरकाव्य भगवान् श्रीकृष्णकी रसमयी (रसीली) भक्तिका प्रेरक उदात्त काव्य है। (समाप्त)

जो तू चाहे सुख सदा

(लेखक—श्रीहरिजी भारद्वाज)

'जो तू चाहे सुख सदा, सरण राम की ले'

संतजन कहते हैं कि 'यदि सदा सुख चाहता है तो तुझे रामकी शरण लेनी पड़ेगी।' ऐसे तो जीवनमें सुख हमें बहुत मिलते हैं; माँके गर्भरूपी कारासे छुटकारा मिलनेसे ही अर्थात् जन्मसे ही सुख प्रारम्भ हो जाता है। जब माता-पिता, सगे-सम्बन्धी प्यार करते हैं तो सुख मिलता है। स्कूल-कालेजमें जब डिग्रियाँ मिलती हैं तो सुख मिलता है। व्याह-शादीमें, पुत्र-प्राप्तिमें, धन-प्राप्तिमें, अच्छी नौकरी, अच्छा मकान, पदोन्नति आदि मिलनेपर एवं अन्यान्य अवसरोंपर जीवनमें हमें असंख्य बार सुख मिलता है। किंतु फिर भी किसीसे पूछकर देखिये कि क्या हाल है ? प्रायः सबसे यही उत्तर मिलेगा कि मैं बहुत दुःखी हूँ। सब यही कहते मिलेंगे कि **'नानक दुखिया सब संसारा'**। सुख क्षणिक है, और वह भी चमकमात्र। फिर दुःखका अथाह अंधकार। इसीलिये यदि कोई सदा सुख, शान्ति चाहता है, तो सतत रूपसे उसे रामकी ही शरण लेनी होगी; क्योंकि सांसारिक व्यवहारसे मिलनेवाले ये सुख स्थायी नहीं हैं। भगवान् कृष्णने गीता (१८। ३६-३९)में तीन प्रकारके सुखोंका वर्णन किया है—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

'अर्जुन ! अब सुख भी तू तीन प्रकारका मुझसे सुन; हे भरतश्रेष्ठ ! जिस सुखमें साधक पुरुष भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है, वह सुख प्रथम साधनके आरम्भकालमें यद्यपि विषके सदृश भासता है, परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है, इसलिये जो भगवद्विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न हुआ सुख है, वह सात्त्विक कहा गया है।' जैसे क्रीडामें संलग्न अबोध बालकको विद्याध्ययन विषतुल्य लगता है, किंतु वह परिणाममें अमृत-सदृश होता है, ऐसे ही सांसारिक विषयोंमें आसक्त व्यक्तिको प्रथमतः भगवद्भजन, ध्यान, तप आदि विषतुल्य लगते हैं, किंतु वास्तवमें इन साधनोंका परिणाम अमृत-सदृश होता है।

दूसरे प्रकारका सुख इसके विपरीत होता है। वह भोगकालमें तो अमृतके सदृश लगता है, किंतु परिणाममें विषके सदृश होता है। यह सुख राजसी कहलाता है। इससे बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह आदिका नाश होता है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

यह राजसी सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है। तीसरे प्रकारका सुख तामसी कहलाता है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

'जो सुख भोगकालमें और परिणाममें भी आत्माको मोहनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामसी कहलाता है।' इन तीन प्रकारके सुखोंका सम्बन्ध इन तीन स्तरोंसे है जिनपर व्यक्ति जीता है। पहला है शारीरिक स्तर, दूसरा मानसिक और तीसरा आत्मिक।

शरीरके स्तरपर केवल दुःख है; क्योंकि शरीर केवल दुःखका ही स्वरूप है। यदि शरीरकी क्षुधा शान्त हो जाती है, वह चाहे पेटकी हो या इन्द्रियोंकी तो शरीरका प्राकृतिक गुण—दुःख कुछ क्षणोंके लिये भूल जाता है, और दुःखका अभाव-सा दीखता है। अब मानसिक स्तरपर सुख आता है। जब मनका भोजन—काव्य, संगीत, साहित्य, कला आदि मनको मिलता है, तब वह सुखका अनुभव करता है। किंतु ये दोनों वस्तुएँ शरीर और मन आगे चलकर नश्वर सिद्ध होती हैं। इसलिये इनको मिलनेवाली खुराक भी क्षणिक और नाशवान् है।

इसके आगे एक और स्तर है, वह है आत्माका स्तर। वहाँ न दुःख है, न सुख, वह सदा समरस है। वहाँ केवल सत्-परमात्मतत्त्व है। प्राणी जीवनभर आनन्दकी खोजमें दौड़ता है कई-कई आयामोंमें। किंतु जबतक उसे यह ज्ञान नहीं होगा कि वह क्या है, तबतक वह कैसे निर्णय कर पायेगा कि उसका स्वरूप क्या है? 'मैं' को खोजे बिना उसके स्वरूपका कैसे निश्चय होगा?

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

यह जीव ईश्वरका ही अंश है और स्वभावसे ही निर्मल, शान्त, सच्चित्सुखमय है। किंतु—

सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

वह मायामें बँधकर 'स्व'को भूल गया है। यह आत्मा (अंश) जबतक अपने 'अंशी'को नहीं पहचान लेगा और उसमें मिल नहीं जायगा, तबतक पूर्ण विश्राम या शाश्वत शान्ति कैसे प्राप्त कर सकेगा? सरिता अपने मूल सागरमें मिलकर ही विश्राम पाती है। इसी प्रकार यदि यह समझमें आ जाय कि 'मैं आत्मा हूँ' तो परमात्मामें मिलकर, उसे पहचानकर ही शाश्वत सुख मिल सकता है—

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

भगवान्‌की शरण अगाध समुद्रके समान है, जिसमें जीवरूपी मछलीको बिना किसी बाधाके सदैव सुखकी अनुभूति होती रहती है।

जीव अपने मूलको भूलकर संसारमें अनेक तरहके मोहमें फँस जाता है। मोहको दुःखका ही पर्याय मानना चाहिये। हमारा सुख स्व-स्फूर्त नहीं है, बल्कि 'पर'पर निर्भर है। हम कभी धनमें, कभी यशमें, कभी किसी व्यक्तिमें सुख ढूँढ़ते हैं। जिस व्यक्ति या वस्तुसे जितना सुख मिलनेकी आशा होती है, उसमें थोड़ी-सी भी कमी आनेपर सुख छिन जाता है।

हम अनेक सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियोंके साथ ममत्वका नाता जोड़ लेते हैं। मेरा पिता, मेरा भाई मेरा घर, मेरा धन, मेरा पद, मेरी शक्ति आदि यह जो 'मैं'का भवन है यह 'मेरे' (के सम्बन्धरूपी) अनेकों खम्भोंपर ही खड़ा है। यदि एक-एक खम्भेको गिरा दिया जाय तो उनके ऊपर खड़ा 'मैं' का भवन सरलतासे गिर जायगा और फिर जो वास्तविक सत्ता है, मूल है, वही रह जायगा। तुलसीदासजी कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

संसारके समस्त सम्बन्धोंसे मनका 'मेरापन' हटाकर रामके चरणोंमें लगानेवाला व्यक्ति रामके हृदयमें ही बसता है। यही बात अर्जुनको समझाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** भगवान् सब धर्मोंकी शरण छोड़कर केवल अपनी शरणमें आ जानेके लिये प्रेरित करते हैं। वस्तुतः उन्हींकी शरणमें शान्ति है, विश्राम है और पूर्णता है।

भक्त नारायणदास

ते निरभय तिहुँ काल, घरमें बन-गिरि गहनमें ।
छाँड़ि कपट-जंजाल, गही सरन जिन रामकी ॥

बंगालके सुप्रसिद्ध राजा कीर्तिचन्द्रके राज्यमें गङ्गाजीके तटपर नारायणदासजीका घर था । वे बड़े ही शुद्धचित्त तथा सरल स्वभावके मनुष्य थे । वे धनवान् और विद्वान् थे, पर उनकी सादगी और सरलता ऐसी थी कि उन्हें कोई वैभवसम्पन्न समझ ही नहीं सकता था । धनमें उनकी आसक्ति थी भी नहीं । मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराममें ही उनका चित्त सदा लगा रहता था ।

नारायणदासजीकी पत्नी मालती भी भक्तिमती, सुशीला एवं पतिव्रता थीं । यद्यपि पत्नीके मनमें कोई सन्तान न होनेका दुःख था, पर नारायणदासजीको इस अभावकी तनिक भी परवा नहीं थी । अवस्था ढल जानेपर संसार त्यागकर श्रीअयोध्याजीमें रहते हुए जीवनके शेष दिन भगवान्के भजनमें बिता देनेका उन्होंने निश्चय किया । साथ चलनेके लिये पत्नीका दृढ़ आग्रह देखकर उसे भी उन्होंने साथ ले लिया । चार बैलोंपर आवश्यक सामान लादकर वे घरसे चल पड़े । साथमें कोई भी सेवक ले चलना उन्हें पसंद नहीं आया, यद्यपि कई नौकर साथ चलनेको उत्सुक थे ।

पति-पत्नी श्रीरामका कीर्तन करते हुए चले । मार्गमें, धर्मशालाओंमें या किसी ग्राममें निवास कर लिया करते थे । इस प्रकार कुछ कालबाद वे चित्रकूट पहुँच गये । चित्रकूटकी उस पुण्यमयी लीला-भूमिको देखकर नारायणदासका हृदय श्रीरामप्रेममें विह्वल हो गया । वे वहाँ कुछ दिनोंके लिये ठहर गये । सत्सङ्ग, साधु-सेवा, भजन-कीर्तन, दान-पुण्य करते हुए कुछ दिनोंतक वहाँ निवास करनेके पश्चात् वे अयोध्याकी ओर चले ।

'श्रीराम श्रीमिथिलेशनन्दिनी तथा कुमार लक्ष्मणजीके साथ वनके बीहड़ मार्गसे ही अयोध्यासे चित्रकूट आये थे । हमें भी वनके कष्टोंका अनुभव करते हुए उसी मार्गसे अयोध्या जाना चाहिये'—यह सोचकर नारायणदासने सीधा मार्ग छोड़ दिया और वे वन-पर्वतोंके दुर्गम मार्गसे चलने लगे । कौन-सा मार्ग सीधा अयोध्या जाता है और कौन-सा नहीं, यह वे नहीं जानते थे । जाननेका साधन भी नहीं था । भगवान्का नाम-कीर्तन करते हुए कंकड़-पत्थर और काँटोंसे भरी ऊबड़-खावड़ पगडंडीसे भयंकर हिंस्र पशुओंसे पूर्ण जंगलके बीचसे होकर वे चले जा रहे थे । वृक्षोंके नीचे किसी झरनेके किनारे वे विश्राम करते और बैल वहीं घास चर लेते, इस प्रकार यात्रा चल रही थी ।

एक बार वे लुटेरे भीलोंके गाँवके निकट जा पहुँचे । भीलोंने समझ लिया कि इनके पास धन है । उन्होंने इनके पास आकर पूछा—'तुमलोग इस बीहड़ वनमें कैसे आ गये ?' नारायणदासने सरलतापूर्वक बता दिया कि 'मैं' अयोध्या जा रहा हूँ ।' भीलोंने कहा—'तुम-लोग तो मार्ग भूलकर इस वनमें आ गये । चलो, अच्छा हुआ कि हमलोगोंसे भेंट हो गयी । हमलोग भी अयोध्या ही जा रहे हैं ।'

नारायणदासने समझा कि ये हमें मार्गदर्शक मिल गये । वे उन दुष्टोंपर विश्वास करके निश्चिन्त हो गये । वे लोग उनको बातोंमें भुलाकर दुर्गम वनमें ले गये । घोर वनमें पहुँचकर भीलोंने नारायणदासको पकड़ लिया और इतना पीटा कि वे मूर्च्छित हो गये । उनके हाथ-पैर बाँधकर एक खाईमें फेंक दिया और ऊपरसे पत्थर पटक दिये । उनको मरा समझकर वे दुष्ट उनकी स्त्रीके पास आये ।

कोई और उपाय न देखकर उस पतिव्रताने नेत्र बंद करके अशरण-शरण प्रभुको पुकारना प्रारम्भ किया—'प्रभो ! आप शरणागत-रक्षक नहीं हैं क्या ? मैंने तो सुना है कि सेवकोंकी रक्षाके लिये ही आप धनुष-बाण धारण करते हैं । क्या सचमुच आप शरणमें आये अनाथोंको शरण देते हैं ? हमारे तो आप ही स्वामी हैं, आप ही रक्षक हैं । हमारी रक्षा क्यों नहीं करते, दयामय !'

मालती नेत्र बंद किये कातरस्वर और अवरुद्ध कण्ठसे प्रार्थना कर रही थी। भीलोंको लगा कि कहींसे घोड़ेकी टापोंका शब्द आ रहा है। वे कुछ सोच सकें, इसके पहले ही सफेद घोड़ेपर सवार एक नौजवान आता हुआ दिखायी पड़ा। मस्तकपर सोनेका मुकुट, कानोंमें रत्नकुण्डल, सर्वाङ्ग आभरण-भूषित, कमरमें तलवार, हाथमें विशाल धनुष, पीठपर तरकस कसा हुआ था। उस श्यामवर्ण कमललोचन युवकको देखकर भील डर गये। उन्हें वह यमराजसे भी भयंकर दीख पड़ा। प्राण लेकर वे इधर-उधर भागे। भागते समय गिरकर किसीका सिर फूटा, किसीका पैर टूटा, किसीके दाँत टूटे। सबको चोट लगी। अन्ततः सब भाग गये वहाँसे। उस युवकने पास आकर घोड़ेसे उतरकर कहा—'माता! तुम कौन हो? इस वनमें अकेली कैसे आयी? तुम्हारे साथ क्या कोई पुरुष नहीं है? तुम्हें ये कौन घेरे हुए थे?'

प्राणोंमें अमृत घोलते हुए जब ये शब्द कानोंमें पड़े; तो मालतीने नेत्र खोलकर देखा और एकटक उस रूप-राशिको देखती रह गयी। युवकके पुनः पूछनेपर उसने किसी प्रकार बड़े कष्टसे अपनी कहानी सुनाकर प्रार्थना करते हुए कहा—'मैं नहीं जानती कि तुम कौन हो? कोई भी हो, मैं समझती हूँ कि मेरी दुर्दशा देखकर ही दयामय रघुवीरने तुम्हें भेजा है। मैं नहीं जानती कि मेरे पतिदेवको ये दुष्ट कहाँ फेंक कर गये हैं। सम्भवतः वे जीवित न हों। तुम मुझ दीन अबलापर दया करो। मेरे धर्मके भाई बनो। एक चिता बना दो। मैं उसमें जलकर अपने अन्तर्‌की ज्वालाको शान्त करूँगी।

युवकने कहा—'देवि! आप चिन्ता न करें। आपके पति जीवित हैं। मैंने आते समय यह शब्द सुना है—'हाय मालती! हमलोग अयोध्या जाकर श्रीरामके दर्शन न कर सके।' अवश्य ये शब्द तुम्हारे पतिके ही होंगे। तुम मेरे साथ चलो। वह स्थान यहाँसे दूर नहीं है।, मालतीमें अब एक पग चलनेकी भी शक्ति नहीं थी। भवभयहारी भगवान्‌ने 'माता' कहकर मालतीको आश्वासन दिया और अपना अभय-हस्त बढ़ाया। वह उन सर्वेश्वरका हाथ पकड़कर चलने लगी।

भील-डाकुओंने नारायणदासको खाईमें पटक दिया था। उनके हाथ-पैर लताओंमें बँधे थे। उनका अङ्ग-अङ्ग मार पड़नेसे कुचल गया था। बड़े-बड़े कई पत्थर उनकी छातीपर ऊपरसे गिरे थे। उन्होंने मन-ही-मन कहा—'मेरे प्रभु! तुम्हारे प्रत्येक विधानमें ही जीवका मङ्गल है। मुझे तुम्हारी प्रत्येक व्यवस्थामें आनन्द है। मैं तो एकमात्र तुम्हारी शरण हूँ।' ऐसा सोचते-सोचते वे मूर्च्छित हो गये थे। मालतीने वहाँ आकर पतिकी यह दशा देखी तो व्यथासे कातर हो भूमिपर गिर पड़ी। भगवान्‌ने उसे आश्वासन दिया। प्रभुने खाईमें उतरकर नारायण-दासकी छातीपरसे शिलाएँ हटा दीं, उनके सारे बन्धन खोल डाले और उन्हें ऊपर उठा लाये। श्रीराघवेन्द्रके हाथोंका अमृतस्रावी स्पर्श पाकर नारायणदासके शरीरमें चेतना लौट आयी। उनके शरीर, मन, प्राण—सबकी पीड़ा तत्काल दूर हो गयी।

नारायणदासने नेत्र खोलनेपर अपने सामने उन धनुषधारीको देखा। कुछ क्षणोंतक वे अपलक देखते रहे। हृदयने कहा—'इस भीषण विपत्तिसे परित्राण भला श्रीजानकीनाथको छोड़कर और कौन दे सकता है? ये पीताम्बरधारी, कण्ठमें कौस्तुभमणि धारण करनेवाले मेरे श्रीरघुनाथ ही तो हैं! 'बस, वे प्रभुके चरणोंमें लोट गये। उनकी प्रेमाश्रु-धाराने प्रभुके पादपद्म धो दिये।

भगवान् अपने ऐसे भक्तोंसे कबतक छिपे रह सकते हैं? प्रभुने अपने ज्योतिर्मय चिन्मय स्वरूपका दर्शन देकर दम्पतिको कृतार्थ किया, उन्हें भक्तिका वरदान दिया।

भगवान्‌की आज्ञासे नारायणदास पत्नीके साथ वहाँसे चलकर कुछ ही दिनोंमें अयोध्या पहुँच गये। श्रीसरयूजीके तटपर उन्होंने अपनी पर्णकुटी बना ली। वहीं साधु-सेवा और भगवान्‌का भजन करते हुए उन्होंने शेष जीवन व्यतीत किया।

कर्मचेष्टाद्वारा आन्तरिक शान्ति

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच० डी०)

काम, क्रोध, लोभ, घृणा, प्रतिशोध, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिहिंसा आदि आवेशोंके वशीभूत होकर मनुष्य कुछ कालके लिये पागल-सा हो उठता है और आवेश-प्रेरित व्यवहार करने लगता है। कुछ ऐसे निराश, थके-हारे आदमी होते हैं, जो संसार और समाजकी बाहरी वस्तुओं, व्यक्तियों या सम्बन्धोंके प्रति उदासीन हो जाते हैं। उनकी सारी क्रियाएँ बाहरी संसारसे खिंचकर 'अहं (Ego) में केन्द्रित हो जाती हैं। वे दु:खी होकर एकान्तमें बैठे शून्य नेत्रोंसे दीवारों या आकाशको देखा करते हैं। उनकी क्रियात्मक, बोधात्मक क्रियाएँ पूर्णरूपसे असम्बद्ध हो जाती हैं, जो व्यक्तित्वके सन्तुलनके लिये हानिकारक हैं। उनमें मानसिक ह्रास होता है। कुछ भ्रान्ति (हैलुसिनेशन)के शिकार होकर हर एकको संदेहकी दृष्टिसे ही देखते हैं। कुछका मानसिक क्लेश अधिक होनेसे उनकी भूखतक मारी जाती है। ऐसे अनेक मानसिक रोगोंमें बहुत-से व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धि खो देते हैं और कुछ देरके लिये निष्क्रिय हो जाते हैं। इस प्रकारकी असंख्य मानसिक दुर्बलताएँ कर्म न करने, आलस्यके शिकार होने और निष्क्रिय जीवन जीनेसे उत्पन्न होती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्तिको अपने चुने हुए कर्तव्यकर्मोंमें जुटे रहना चाहिये।

क्रोध और हिंसाकी हालतमें मनुष्यकी आँखें चमक उठती हैं, वह दाँत पीसता है, दोनों हाथोंकी मुट्ठी बाँधता है और तेजीसे श्वास लेता है। हालहीमें मेरे एक मित्रको हृदय-रोगका घातक दौरा पड़ा था। डाक्टरने उसे शान्त होकर विस्तरपर लेटनेकी सलाह दी और सावधान किया कि वह किसी भी परिस्थितिमें क्रोध न करे। थोड़ा-सा अधिक क्रोध जानतक ले सकता था। तनावपूर्ण जीवन व्यतीत करनेसे जब लोगोंमें ईर्ष्या पुरानी हो जाती है तो फलस्वरूप असाध्य रक्तचाप और हृदय-रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है।

मनोविकारोंकी दिशा बदलिये

आवेश या तीव्र मनोविकार एक प्रकारकी प्रचण्ड मानसिक शक्तिके विस्फोट हैं। वायु, जल, अग्नि आदिकी भाँति हमारे मनोविकारोंमें अद्भुत शक्ति भरी हुई है और उन्हें दबानेसे पागलपन या अनेक प्रकारके मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। आवेशमें आकर मनुष्य अद्भुत साहसिक कार्य कर डालता है। क्रोधमें वह भयङ्कर-से-भयङ्कर कामतक कर डालता है। निराशा और चिन्तामें वह कर्मशून्य हो उठता है। विद्वेष और घृणाकी कमजोरी कुछ विशेष व्यक्तियों, स्थानों, वस्तुओंके प्रति बहुत दिनोंतक रहकर हमें समाजके लिये बेकार कर देती है। उनसे वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरोंकी अच्छी बातें भी देखना-सुनना नहीं चाहता या उनका महत्त्व स्वीकार करना नहीं चाहता। कभी-कभी इस दुष्प्रकृतिके कारण दूसरेको नीचा दिखानेका भाव उत्पन्न हो जाता है और मनुष्य घृणित तथा घोर अनर्थकारी कामोंमें—व्यर्थ वाद-विवादमें फँसना, बेइज्जती करना, मारकाट, हिंसा, हानि पहुँचाना आदिमें लगा रहता है।

मनोवेगों (छिपी हुई आवेगपूर्ण शक्ति)के एकत्र हो जानेपर जब हम किसी विशेष कर्मचेष्टाद्वारा उसके हिंसक और हानिकर रूपसे विरत हो जाते हैं, तब हमारे शरीर और मनको विशेष लाभ होता है। हमारा मानसिक तनाव दूर हो जाता है और हम हलकेपनका अनुभव करते हैं। यह मानसिक और शारीरिक तनावरहित अवस्था सहज स्वाभाविक अवस्था है। इसी अवस्थाके लिये गीतामें—**'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः'**की साधनाका उपदेश दिया गया है।

किसी समाजोपयोगी कर्म (Social-action) में पूरी तरह लगकर हम संचित आवेगपूर्ण शक्तिको स्वाभाविक रूपमें बाहर निकलनेका मार्ग देते हैं। जब किसी नहर, नदी या नालीका जल कहीं यकायक रुक जाता है तो बाढ़की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उस स्थितिमें बाँधके बंद दरवाजे खोलकर बढ़े हुए जलको बाहर निकलनेका सही मार्ग देते हैं, जिससे रुकावटके कारण कहीं बाँध ही न टूट जाय। इसी प्रकार कर्मद्वारा हम अपनी आवेगपूर्ण शक्तिको बाहर निकालकर अपने बहुमूल्य शरीरकी रक्षा कर लेते हैं और निष्क्रिय रहनेपर हम उपर्युक्त मनोवेगोंके दायरेमें आकर अशान्त हो जाते हैं। अतः कर्मण्य जीवन बिताना नितान्त आवश्यक है।

कर्मद्वारा मन और शरीरका पवित्रीकरण

कर्म हमारे दूषित मन तथा शरीरको शुद्ध करनेवाला (Purifying Effect) पूजाके समान पवित्र एक आध्यात्मिक साधन है। कर्मकी पवित्र अग्निमें तपकर मनुष्यके समस्त दुर्गुण जलकर भस्म हो जाते हैं। महाभारतकार कहते हैं कि **'कर्मक्षेत्रं हि मानुषम्'** अर्थात् मानवजीवन कर्मक्षेत्र है। काममें लग जानेसे मनुष्यमें कर्तव्य पूरा करनेकी बुद्धि जाग्रत् हो जाती है। कर्मसे आयु बढ़ती है। कर्ममार्गी लम्बी आयुतक युवा बने रहते हैं। जो अपने कर्तव्य-कर्ममें लगता है, वह रोगों तथा समस्त प्रकारके शोकसे सुरक्षित रहता है। यदि कर्म करोगे तो अथर्ववेद (५। ३०। १७)के अनुसार बुढ़ापेसे पहले आप मरनेके नहीं—**मा पुरः जरसो मृथाः**। कर्ममार्गी समस्त शोकसे पार हो जाता है। मनुष्य कर्मके अनुसार ढलता है। गीताके अनुसार कर्म श्रेष्ठ पूजा है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

मनुष्य अपने कर्तव्यरूपी पूजासे परमेश्वरकी अर्चना कर सिद्धि पा लेता है। कर्म-सौन्दर्य ही योग है। **'योगः कर्मसु कौशलम्'** (गीता २। ५०) अर्थात् कर्म करनेमें कुशलताका नाम ही योग है। जबतक आप कर्ममें तन्मय रहते हैं, तबतक समस्त चिन्ताओंसे बचे रहते हैं। स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है, आलस्यमें पड़ते ही शरीरको जैसे जंग लगने लगता है। कर्म ही शरीरको पवित्र करनेवाला, रोग-शोक, चिन्ता-व्याधि आदिको दूर करनेवाला धार्मिक तत्त्व है। इसीलिये उपदेश है कि—**'योक्तव्यं भूतिकर्मसु।'** ऐश्वर्यवाले कर्मोंमें जुट जाना चाहिये।

लेकिन (कामका) भार उतना ही उठाना चाहिये, जो दुःखी न करे—**'भारः स सम्यक् हर्तव्यो भारो यो न विषादयेत्** (वा० रा० अ० ५५। १०)।' शक्तिसे अधिक काम करनेपर मनुष्य शीघ्र ही थकावटसे क्लान्त होने लगता है। फिर भी चिन्ताकी अपेक्षा चेष्टापर ध्यान देना चाहिये। क्योंकि चिन्तासे मानसिक तनाव उत्पन्न होता है और शारीरिक परिश्रमसे थकान आनेसे गहरी निद्रा आती है। कामके बाद विश्राम कीजिये। मनोरोगके चिकित्सकोंका कहना है कि प्रायः थकानके मुख्य कारण—हमारी भावात्मक भावुकता, चिन्ता, उकताहट, क्लेश, श्लाघा और शीघ्रता आदि क्षोभसे भरी दिमागी अवस्थाएँ हैं। ये मस्तिष्कको तुरंत थका देती हैं। यह कहा जा चुका है कि कठोर शारीरिक कार्यसे अच्छी नींद आती है और विश्राम करनेसे स्वास्थ्य तथा उत्साह प्राप्त होता है। काम करते समय मांसपेशियाँ तनी रहती हैं। अवकाशके क्षणोंमें उन्हें ढीला कर दीजिये और इस प्रकार महत्त्वपूर्ण कार्योंके लिये अपनी शक्ति बचाकर रखिये। शरीरको ढीला और लचीला रखिये, ढीले वस्त्र पहनिये। पर्याप्त आराम कीजिये।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक चिकित्सक विलियमजेम्सने अपने प्रबन्ध—'आरामके सिद्धान्तमें' कुछ उपयोगी बातें लिखी हैं। वे लिखते हैं—'बुरी आदतोंके कारण ही अमरीकी

जीवनमें तनावका आधिक्य है। भाग-दौड़ और जल्दबाजी है; उतावलापन और चञ्चलता है। तनाव एक बुरी आदत है। इसी प्रकार ठीक तरहसे विश्राम करना भी एक आदत है। बुरी आदत मिटायी जा सकती है और स्वस्थ आदतें डाली जा सकती हैं। आप आराम किस प्रकार करते हैं—दिमागसे या स्नायुसे? आप इसका प्रारम्भ मांसपेशियोंसे कीजिये। अपनी आँखोंकी मांसपेशियोंको आज्ञा दीजिये कि वे विश्राम करें। उन्हें ढीला छोड़िये, कुछ देर बंद कीजिये। हो सके तो ठंडे जलसे धोइये भी। कुछ देर नेत्र मूँदकर लेटे रहकर निष्क्रिय पड़े रहिये। पूरा शरीर ढीला और लचीला छोड़ दीजिये। इसी प्रकार अपने हाथ-पाँव, गर्दन, चेहरा, कन्धे और समस्त शरीरकी मांसपेशियोंको ढीला छोड़कर पूर्ण विश्राम किया कीजिये। यदि आप कामके बाद अपने मन तथा शरीरको विश्राम दे सकते हैं, तो निश्चय ही कर्मद्वारा आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। अपने शास्त्रोंने कर्मके लिये कार्यक्रम स्थिर किये हैं। प्रातःसे लेकर रात्रिमें सोनेतकके कर्तव्य नियत हैं। आयुर्वेदमें इनका विशेष विवेचन है और धर्मशास्त्रोंमें सौष्ठवपूर्ण विधान है। अतः प्रत्येक आन्तरिक शान्ति चाहनेवाले साधकको उनका यथावत् पालन करना चाहिये। आन्तरिक शान्ति ही स्वर्ग है।

जाग्रत् कौन ?

(लेखक—पं० श्रीभृगुनन्दनजी मिश्र)

सामान्य व्यक्तिको उपर्युक्त शीर्षकका प्रश्न कुछ अटपटा-सा लगेगा और इसका उत्तर देते समय व्यक्ति कुछ सावधान होकर सोचेगा कि वस्तुस्थिति क्या है। अथवा सम्भव है, वह लेखकसे ही उत्तरकी आशा रखे। अतः यहाँ विवेचनीय है कि किस प्रकार परिस्थितियों, अवस्थाओं एवं विकारों आदिसे प्रभावित व्यक्ति अपनेको जाग्रत् कह सकते हैं। श्रीरामचरितमानसमें पूज्य श्रीगोस्वामीजी श्रीलक्ष्मणजीसे कहलाते हैं—

सपनें होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ।
जागें हानि न लाभ कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥
मोह निसाँ सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥

और वे ही एक दूसरे स्थानपर भगवान् शंकरजीसे कहलाते हैं—

जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥

इससे यह ध्वनित होता है कि हम व्यावहारिक जगत्में अथवा जाग्रत्-अवस्थामें रहते हुए भी वास्तवमें सोये हुए हैं। व्यवहारकालमें हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विषयोंसे भिन्न कोई कार्य नहीं करते। जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें अपने ही मनोराज्यमें उत्पन्न हुए समस्त प्राणी-पदार्थोंमें हम अपनत्वका सम्बन्ध आरोपित कर लेते और जाग्रत्-अवस्थामें आ जानेपर उन्हें मिथ्यामात्र निश्चय करते हैं तथा स्वयं अपनेको उन पदार्थोंका केवल कल्पित द्रष्टा मानते हैं, ठीक यही स्थिति जाग्रत्-अवस्थाके व्यवहारोंमें भी आरोपित होती है। जाग्रत्-अवस्थामें यद्यपि हम अज्ञानवश अपनेको जाग्रत् घोषित करते हैं, किंतु आध्यात्मिक रूपमें हम यहाँ भी एक प्रकारसे सुषुप्त ही हैं। इस विश्वमें हमने जितने प्राणी और पदार्थोंमें ममता स्थापित कर रखी है, वे तो नश्वर ही हैं। या तो हमारे सामने ही उन सबका वियोग हो जायगा या फिर हम स्वयं ही उनसे बिदा ले लेंगे। क्या उन प्राणियों और पदार्थोंके विषयमें हमारी सब मान्यताएँ या धारणाएँ सत्य सिद्ध हो सकी हैं?

विचार-दृष्टिसे देखनेपर हमारी जाग्रत्-अवस्थाके समस्त कार्यकलाप वास्तवमें स्वप्नवत् मिथ्या ही सिद्ध होते

हैं, उनके विषयमें हमारा समस्त ज्ञान मोह-निद्राग्रस्त मात्र ही है। मोहनिद्रामें ही तो हम अपनेको शरीर मानते हुए यह सब स्वप्न देख रहे हैं। क्या स्वप्नावस्थामें किसीके शस्त्रद्वारा हमारे शिरश्छेदनकी पीड़ासे मुक्त होनेका कोई उपाय है ? उसका तो निद्रावस्थासे केवल जाग्रत् करा देना मात्र ही उपचार है। जागनेका लक्षण पुनः श्रीगोस्वामीजी महाराजके शब्दोंमें देखिये—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

ऐसे जागनेवाले ही योगी होते हैं—

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

इस विवेचनसे यही निश्चय होता है कि मनकी प्रपञ्चाभिमुख वृत्ति अज्ञानाच्छादित होनेके कारण परमार्थ-सत्ता—परमात्मस्वरूपमें पूर्णतः सुषुप्त ही है। मनका विषयोंसे हटकर अन्तर्मुख हो जाना ही जाग्रत्की ओर अग्रसर हो जाना है। श्रीमद्भगवद्गीता (अ० २। ६९)में भी भगवान् श्रीकृष्णने जागने और निशाका ऐसा ही लक्षण निर्देशित किया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

इस जगत्के समस्त भूत-प्राणियोंका विषयाभिमुख जीवन उनकी जाग्रत्-अवस्था है और अपने आत्मस्वरूपका अज्ञान ही उनके लिये रात्रिके समान है, जिसमें वे सोये हुए हैं; इसके विपरीत मनन-शील, विवेकी पुरुष इन्द्रियजन्य विषयभोगोंकी ओरसे पूर्णतः सुषुप्त होकर अपने आत्मस्वरूपमें सदैव जाग्रत् रहते हैं। इस प्रकार हम व्यावहारिक जगत्में देखते हैं कि प्राणिमात्रकी जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनों ही अवस्थाएँ परस्पर प्रातिभासिक सत्ताएँ हैं, जिनमें पारमार्थिक, सत्ताका बोध नहीं होता। वे सब वास्तवमें स्वप्नवत्, अन्धकार एवं अज्ञानाच्छादित अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओंमें वर्तमान पुरुषके व्यवहारोंकी हम जाग्रत् पुरुषके व्यवहारोंसे तुलना नहीं कर सकते हैं। सभी अवस्थाओंकी आधारभूत बोधस्वरूप तुरीयावस्था यद्यपि मनुष्यके अत्यन्त निकट है, किंतु अज्ञानके कारण उसे मनुष्य समझ नहीं पाता। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि जबतक हम अज्ञान या मायासे प्रभावित क्षेत्रमें स्थित बने रहेंगे, तबतक उसकी सीमासे बाहरके ज्ञानालोकमें हम कदापि प्रवेश नहीं पा सकते हैं। उपनिषद् हमें अपने दिव्यघोष **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'**—के द्वारा बार-बार जाग्रत् कर रही है। उसको हम अन्तर्मुख होकर सुनें और विचारपूर्वक अपनी पूर्वावस्थासे तटस्थ (साक्षी) होकर देखें कि हमारे जाग्रत् होनेमें अपनी वास्तविक स्थिति (स्वरूपसत्ता)में पहुँचनेके मार्गमें हमारे मनकी वृत्तियाँ ही तो बाधक नहीं बनी हुई हैं ? वस्तुतः उन्होंने हमारी अन्तश्चेतनाकी दिशा ही बदल रखी है। अतः आध्यात्मिक जिज्ञासुओंको श्रीगोस्वामीजी महाराजकी निम्नाङ्कित प्रतिज्ञा—

अबलौं नसानी अब न नसैहौं।
राम कृपा भव निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥

—के अनुसार दृढ़ निश्चयपूर्वक अपनेको शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त-अहंकारके बन्धनसे ऊपर उठाकर इन सबकी साक्षीभूत चेतनामें जागर्ति होनी चाहिये। प्रचलित लोकोक्ति है—'जो स्वयं जाग्रत है, वही दूसरोंको जगाता है'—अतः हम स्वयं जागेंगे तभी दूसरोंको जगा सकेंगे। हम व्यावहारिक जगत्में भी रात-दिन देखते हैं कि मनुष्यकी अधिकांश हानि निद्राके कारण ही होती है तथा समस्त बुराइयाँ एवं दोष अन्धकाराश्रित होकर ही उत्पन्न होते, पनपते एवं वृद्धिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार हमारे सारे बन्धन अज्ञान या अविद्याकी छायामें ही उत्पन्न हुए हैं। अतः भवबन्धन तोड़नेकी दृढ़ भावनासे हम अपनी अन्तश्चेतनाके प्रकाशमें जाग्रत् हो उठें। ऐसा लक्ष्य जिसने एक बार निश्चित कर लिया, वह प्रकाशमय लोकका पथिक बन गया। हमारी हृदयगुहामें जब आत्माके चैतन्य-प्रकाशकी पहली किरणका ही प्रवेश

हो जाता है, तब समझ लीजिये कि हम मङ्गलमय जीवनके प्रभातकी बेलामें जाग उठे हैं। जैसा कि हम (मानस २।९२।२के शब्दोंमें) पहले कह आये हैं कि—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

जीवनमें अधिकार, सत्ता, सम्पत्ति तथा उच्चपद-प्राप्तिकी अनेक अभिलाषाओंकी पूर्तियाँ न होनेसे हमारे मानसिक जगत्में जिन निराशा, अभाव, असंतोष एवं अतृप्ति आदिने डेरा डाल रखा था, वे सब अपने आत्म-वैभवकी एक झलकमात्रसे सदा-सदाके लिये अदृश्य हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार, कुहरा एवं बादल एक साथ ही छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। मानव-शरीरके जन्मके साथ ही यद्यपि कुछ पुराने संस्कार बीजरूपमें साथमें आते हैं, किंतु अधिकांश दोष एवं विकार वर्तमान जीवनमें संगदोषसे लग जाते हैं, जिन्हें आत्मसंयम, नियम एवं वैराग्यकी प्रबल भावनाओंद्वारा निरस्त कर देना मानवी पुरुषार्थके अधीन है। इस विषयमें विशेष जानकारीके लिये योगवाशिष्ठमें ज्ञानकी सप्तभूमिकाएँ तथा जाग्रदादिके ३-३ भेदोंके प्रकरण द्रष्टव्य हैं। तदनुसार यदि हम सतत जागरूक एवं सावधान रहकर आत्मशुद्धिके व्रतका कड़ाईके साथ पालन करना सीख जायँ तो इस जीवनमें दोष एवं बुराइयोंको स्थान नहीं मिलेगा। जिस प्रकार बाल्यजीवन अत्यन्त सरल, निष्कपट एवं विकाररहित होता है, उसी प्रकार हम अपनी वास्तविक स्थितिमें पहुँच जानेका प्रयास करेंगे तो जैसे महान् तेजस्वी सूर्यदेवकी उपस्थितिको क्षुद्र बादल एवं कुहरा अधिक समयतक रोक सकनेमें समर्थ नहीं होते, वैसे ही निःसंदेह हम अपनी प्रखर ज्ञानोपासनासे वर्तमान जीवनमें ही मोह-निद्रासे जाग्रत् होकर आत्मोपलब्धिके द्वारमें प्रवेश कर सकेंगे।

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥
ॐ शान्तिः। शान्तिः॥ शान्तिः॥।

कुरूपता और सुन्दरता

ग्रीस (यूनान) का सुविख्यात दार्शनिक सुकरात बहुत कुरूप था। वह सदा अपने पास एक दर्पण रखता था, जिसमें प्रायः वह अपना मुख देखा करता था। उसकी इस क्रियापर लोगोंको बड़ा कौतूहल होता।

एक दिन कुछ लोगोंने सुकरातसे इसका कारण पूछा। सुकरात थोड़ा हँसा, फिर बोला—'मैं जानता हूँ कि मैं बहुत कुरूप हूँ। इसलिये मैं क्षण-क्षण दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब निहारा करता हूँ जिससे मुझे हर क्षण यह अनुभूति बनी रहे कि मैं बदसूरत हूँ, और अपनी इस कुरूपताको सुन्दरतामें बदलनेके लिये लोगोंकी भलाईके लिये मुझे सुन्दर और उत्तम कार्य करने चाहिये।'

थोड़ी देर चुप रहनेके पश्चात् सुकरात पुनः बोला—'किसी सुन्दर व्यक्तिको भी यह समझ कर ही दर्पण देखना चाहिये कि जैसा वह सुन्दर है वैसे ही उसके कार्य भी सुन्दर होने चाहिये। तभी रूपकी सार्थकता है। सुकरातके इन विचारोंको सुनकर लोग इतने प्रभावित हुए कि वे उसके पक्के शिष्य बन गये। (वस्तुतः आन्तरिक—गुणपरक-सौन्दर्यका ही महत्त्व है। बाह्य-सौन्दर्य तो दिखावटी और धोखा देने वाला होता है।)

—श्रीशिवचरणसिंहजी चौहान

आप कहीं अपने प्रति अन्याय तो नहीं कर रहे हैं ?

(लेखक—श्रीगोरखनाथसिंहजी)

कहीं आप अपने प्रति अन्याय तो नहीं कर रहे हैं ? यद्यपि बात कुछ चौंकानेवाली है, किंतु यदि हम अपना अन्तर्निरीक्षण करें, तो बहुत अंशोंतक यह सत्य ही जान पड़ेगी। वास्तवमें जब हम दूसरोंको धोखा देते हैं तब उन्हें तो कम, किंतु आत्मवञ्चना हम अधिक करते हैं। क्या अपनेको धोखा देना अपने प्रति अन्याय नहीं है ? आत्मवञ्चनाके द्वारा आत्मघात न करनेके लिये ही कहा गया है कि 'हमें अपनेसे अपना उद्धार करना चाहिये, अपनेको अवसादमें नहीं फँसाना चाहिये—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आजका मनुष्य पशुता (Animality) में पशुओंसे भी कई गुना आगे बढ़ गया है। उसे मनुष्य बननेके लिये इस पशुताका परित्याग करना पड़ेगा। यदि पशुताका सर्वथा परित्याग न भी सम्भव हो तो उसका कुछ हदतक परिष्कार तो अवश्य ही करना है। इस परिष्कारकी दिशामें डाक्टर हरदयालने 'अपनी प्रसिद्ध पुस्तक—Hints for self culture'में चार संस्कृतियोंका उल्लेख किया है। उनके अनुसार व्यक्ति अपना नियमन करके वास्तविक अर्थमें संस्कृत (Cultured) होकर पाशविकताके चंगुलसे मुक्त हो सकता है। वे निम्नवत् हैं—

शारीरिक संस्कृति (Physical culture)
मानसिक संस्कृति (Mental culture)
सौन्दर्यसम्बन्धी संस्कृति (Aesthetic culture)
नैतिक संस्कृति (Ethical culture)

शारीरिक संस्कृतिके अनुसार हमें इस शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिये। इसके लिये निम्नसूत्रोंके अनुसार कार्य करना वाञ्छनीय है— (१) नियमित व्यायाम अथवा कठोर परिश्रम। (२) सन्तुलित आहार-विहार। (३) मादक द्रव्योंका सर्वथा परित्याग,यथा—मांस-मदिरा, तम्बाकूका किसी भी प्रकारसे सेवन न करना। इस शारीरिक संस्कृतिसे मानसिक संस्कृति घनिष्ठतापूर्वक जुड़ी हुई है; क्योंकि स्वस्थ शरीरमें ही स्वस्थ मस्तिष्कका वास होता है। स्वस्थ शरीर एवं मनके संयोगसे ही स्वस्थ एवं मौलिक विचारोंका प्रस्फुटन होता है।

सौन्दर्य-संस्कृतिसे अभिप्राय है—सौन्दर्यके सम्बन्धमें संतुलित दृष्टिकोणसे वास्तविक सौन्दर्यका वरण करना। इस दृष्टिकोणसे परिष्कृत जीवन एक अमूल्य रत्न है। इस सम्बन्धमें कुछ बातोंका उल्लेख कर देना अप्रासङ्गिक न होगा। सौन्दर्य व्यक्तिगत तथा वस्तुगत दोनों माना गया है। बाह्य चमक-दमकको ही वास्तविक सौन्दर्य मान बैठना भूल है। वह तो सौन्दर्यकी ऊपरी पर्त है, जो तत्त्वतः मृग-मरीचिकाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तविक सौन्दर्य बाह्य तथा आन्तरिक सौन्दर्यके समन्वयका ही प्रतिफल होता है। इसीका निरूपण शेक्सपियर महोदय अपनी प्रसिद्ध कविता—'ट्रुथ एण्ड ब्यूटी' ('Truth and Beauty') में करते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो तथा गाँधीजीका भी यही मत है। महात्मा सूरदास निम्नपङ्क्तियोंमें इसी सौन्दर्यका निरूपण करते हैं—

यह संसार सुवा सेमरको सुंदर देखि भुलायो।
चाखन लग्यो रुई उधरानी हाथ कछू नहिं आयो॥

अन्ततः नैतिक संस्कृतिकी बात आती है। इसे मानवीय मूल्यकी भी संज्ञा दी जाती है। इसका उपयोग मनुष्यमात्रसे ही अपेक्षित है। पशुओंमें इसका सर्वथा अभाव होता है। यदि हम इससे वञ्चित हैं तो निश्चय ही हम हिंसक एवं गंदे पशुओंकी कोटिमें आते हैं। भले ही हम अपनेको साधु-संत, महात्मा, विचारक,

सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता, किसी बड़े पदका अधिष्ठाता मानें, किंतु सब निरर्थक है। अतः हमें इन संस्कृतियोंके परिष्कारसे संस्पृष्ट रहकर अपने प्रति घोर अन्याय करनेका दोषी नहीं होना चाहिये; क्योंकि इसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है। हमें सावधानीपूर्वक नैतिक जीवन अपनाना अभीष्ट होना चाहिये। फिर तो हमारी समस्त भ्रान्त धारणाएँ और गलतियाँ अपने-आप सुधर जायँगी। इस दिशामें हमें अपना पग बढ़ाना चाहिये। सुसंस्कृत जीवन जीने तथा समाजके लिये उपयोगी बननेके लिये ऐसा किया जाना आवश्यक है; अन्यथा हम अपने समाज, राष्ट्र तथा स्वयं अपने प्रति कर्त्तव्य-पालन तथा उत्तरदायित्वोंके निर्वाहमें न्याय नहीं कर पायँगे। इसमें सफल होनेके लिये पूर्ण संनद्धता, आत्म-विश्वास तथा सजगता अपेक्षित है।

आत्मनः प्रतिकूलानि

(लेखक—श्रीशिवेन्द्रप्रसादजी गर्ग, 'सुमन')

'एल्फा आफ दि प्ला' (Alfa of the plaugh)-के सुप्रसिद्ध लेखकने अपने एक बहुचर्चित एवं बहुपठित लेख—'रूल आफ दि रोड'में सच ही लिखा है कि आज अपने शौर्य एवं वीरताके प्रदर्शन अथवा त्याग या बलिदानकी अपनी उत्कट अभिलाषाओंको मूर्त रूप देनेके अवसर नहीं मिलते, अतः अपने दैनिक आचरणमें ही अपेक्षित सावधानी बरत कर आप दूसरोंको अपने बारेमें राय बनानेका अवसर देते हैं और अपने आचरणद्वारा ही अपनी जीवन-यात्राको सुखद या कण्टकाकीर्ण बनाते हैं।

कदाचित् धर्मकी यह एक सुन्दर व्याख्या है। 'धर्म क्या है?' यही प्रश्न यक्षने भी युधिष्ठिरसे किया था। सबसे बड़ा धर्म है—सभी प्राणियोंके साथ मधुर एवं उत्तम व्यवहार करना। हम सभीको आत्मवत् समझें। जैसा हमें रुचिकर लगता है, वैसा ही व्यवहार हम अन्योंके साथ करें। सूत्ररूपमें कहा गया यह मापदण्ड एक बहुत बड़ा मार्गदर्शक है कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

'जो व्यवहार अपनेको अच्छा न लगे, वैसा व्यवहार दूसरे प्राणियोंके साथ नहीं किया जाना चाहिये।' वस्तुतः संसारमें न कोई किसीका शत्रु है और न मित्र। हम जैसा करते हैं, वैसा ही फल भुगतते हैं। विश्वकर्म प्रधान है। गोस्वामीजीने कहा है—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करहिं सो तस फल चाखा॥

यदि कोई हमारे साथ बुरा करता है और हमें बुरा लगता है या हम भी प्रतीकारमें वैसा ही करते हैं तो दोनोंमें अन्तर ही कहाँ रह जाता है? प्रतिकूल परिस्थितिमें भी व्यक्ति धैर्यवान् रहे, छोटी-छोटी बातोंसे उद्विग्न न हो, इसीमें शान्ति एवं सुख निहित है।

'संतवाणी'में कहा गया है—

निज आतमको दमन कर, पर आतम को चीन्ह।
परमातम का भजन कर, ये ही मत परवीन॥

अर्थात्—अपने शरीर और मनको वशमें करो, दूसरे प्राणियोंका हित चाहो और परमात्माका आश्रय लो, यही कल्याणका सबसे सरल और सुगम रास्ता है।' हम लालसाओंके पीछे दौड़ते-फिरते हैं और भोगोंमें सुख खोजते हैं। यह सब मृगतृष्णा ही है। ओस चाटनेसे भला प्यास बुझती है? वास्तविकता यह है कि जीवन बहुत छोटा—क्षणिक है, हम भोगोंको नहीं भोग रहे हैं, वरन् भोग ही हमें भोग रहे हैं। तृष्णाएँ जीर्ण नहीं हो रही हैं, बल्कि हम स्वयं जीर्ण हो रहे हैं—

'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।'

ऐसेमें, जब अङ्ग गल रहे हैं, शरीर साथ नहीं दे रहा है, दाँतों और आँखोंने काम करना बंद कर दिया है, शरीर काँप रहा है, कानोंसे सुनाई नहीं देता, तब भी हम आशाओंका दामन नहीं छोड़ते। हमारी कामनाएँ मरती नहीं हैं। संसारका सबसे बड़ा आश्चर्य भी यही है कि दूसरोंको नित्य-प्रतिदिन मरते हुए देखकर भी हम स्वयंको अमर समझते हैं। भला हम चेतते क्यों नहीं? संतवाणीमें ठीक ही कहा गया है—

ना सुख काजी पंडितां, न सुख भूप भयां।
सुख सहजे ही पाइए, तृष्णा रोग गयां॥

पर कठिनाई यह है कि हम आचरणमें यह सब नहीं उतारते और इसीलिये जीवनमें दुःख, अभाव एवं असंतोष है। बातें हम बहुत करते हैं, पर आचरण नहीं।

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

नीतिके अनुसार यदि कथनी और करनी एक हो तो क्या कहना—

कहनी शक्कर खाँड सी, रहनी विषकी लोय।
कहनी सी रहनी हुई तो विष ही अमृत होय॥

जीवनमें यह बात समझनेकी है कि सुख देनेपर ही सुख होता है, दुःख पहुँचाना दुःखका कारण है—

'सुख दीने सुख होत है, दुख दीने दुख होय।'

भारतीय संस्कृतिके निदर्शक पुराणोंमें श्रीव्यासदेव परोपकारको पुण्य और परपीडनको पाप कहते हैं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

हम अपनी सम्पत्ति या आयका कुछ अंश—कम-से-कम दशमांश अन्योंकी सेवामें अवश्य लगायें और तदुपरान्त ही शेष राशिका उपयोग करें। ईशोपनिषद्का यही सार है—**'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'**—अर्थात् हम दूसरोंके धनकी इच्छा न करें। अपनी आवश्यकतासे अधिक सामग्रीका संग्रह ही दूसरोंका हक छीनना है। इसलिये अपरिग्रहका महत्त्व बताया गया है।

यह बड़े आश्चर्यका विषय है कि हम पुण्य नहीं करते, लेकिन फिर भी पुण्योंका फल चाहते हैं, पाप करते हैं, किंतु पापोंका फल नहीं भुगतना चाहते—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

(भागवत माहात्म्य)

धर्मको जानते हैं, पर धर्मकी ओर प्रवृत्त नहीं होते, पापको नहीं जानना चाहते, पर पापोंसे लिपटे रहते हैं—

पर हम यह न भूलें कि अच्छे और बुरे, जैसे भी कर्म हमने किये हैं, उनका फल भोगना अवश्यम्भावी है—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** इस कलियुगमें तो कर्म-फल और शीघ्र मिलता है। कर्म-फल हमें उसी प्रकार ढूँढ़ लेते हैं, जैसे बछड़ा गो-समूहमें अपनी माताको—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥

(गरुडपु० २। ३१। १, चाणक्यनीति १३। ५५, पञ्चत० २। १३२)

आवश्यकता है जीवनमें धार्मिक बननेकी। हम धर्मको मानें; क्योंकि मनुके अनुसार जो व्यक्ति धर्मका हनन करता है, धर्म उसका हनन करता है। जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म भी उसीको धारता है—**धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः॥** (मनु ८) इसी प्रकार **'यतो धर्मस्ततो जयः'** कहा गया है। बात फिर एक ही जगह घूम-फिर कर आ जाती है। धर्म क्या है एवं धर्मानुसार आचरण क्या है? हम यदि इसकी एक ही कसौटीको जीवनमें उतार लें तो सुख-ही-सुख है। धर्मकी एक कसौटी यह भी है—**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**—अर्थात् हम दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करें, जैसे व्यवहारकी हम उनसे अपेक्षा करते हैं।

साधकोंके प्रति

[परमात्म-प्राप्तिकी उत्कण्ठा]

यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है। परमात्माकी प्राप्तिको ही परमधामकी प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार भगवत्-दर्शन, मोक्ष, दुःखोंका आत्यन्तिक अभाव आदि अनेक नामोंसे कहा गया है। परमात्मप्राप्तिके स्वरूपके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीता (६। २२-२३के पूर्वार्द्ध)में आया है कि—

'परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर योगी उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित वह (योगी) बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये (और प्राप्त कर लेना चाहिये)।'

इस परमात्मप्राप्तिके विषयमें लोग प्रायः ऐसा सोचा करते हैं कि 'जब धन, मान, बड़ाई, आरोग्य आदि संसारकी छोटी-छोटी सामग्रीको प्राप्त करनेके लिये भी पर्याप्त कष्ट सहना पड़ता है, फिर भी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति शीघ्रता एवं सरलतापूर्वक नहीं होती, तब जिससे बढ़कर कुछ भी नहीं है—ऐसे परमात्माको प्राप्त करना तो बहुत ही कठिन कार्य होगा। गृहस्थीमें रहनेवाले तथा मोह-मायामें फँसे हम कलियुगके तुच्छ प्राणी उसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं?' इत्यादि, किंतु ऐसा सोचना पूर्णतः भ्रामक है। वस्तुतः परमात्माको प्राप्त करनेके लिये बहुत अधिक विद्या, उद्योग, पुरुषार्थ, योग्यता आदिकी आवश्यकता नहीं होती है। इनकी आवश्यकता तो नाशवान् सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये होती है। परमात्माकी प्राप्तिमें यदि कोई आवश्यकता है तो वह है—उत्कण्ठाकी, व्याकुलताकी। व्याकुलता वैसी कि उनको प्राप्त किये बिना किसी भी वस्तु, व्यक्ति, धन, मान, बड़ाई आदिसे चैन न मिल सके। परमात्मा क्या हैं और कैसे हैं? वे सगुण हैं या निर्गुण, साकार हैं या निराकार?—इन बातोंपर विचार करनेकी भी विशेष आवश्यकता नहीं है। आवश्यकतामात्र इतनी ही मान लेनेकी है कि परमात्मा हैं और सर्वोपरि हैं, अर्थात् उनसे बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है, जैसा कि अर्जुनने भगवान्‌के प्रति कहा भी है कि—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥
(गीता ११। ४३)

'हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी कोई दूसरा नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है?'

अत्यधिक भूख-प्यास लगनेपर केवल यही इच्छा रहती है कि भूख-प्यास कैसे मिटे? अन्न और जल कैसे मिले? इससे भी बढ़कर अपनेमें यह उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाय कि परमात्मा कैसे मिलें? तो केवल इतनेसे ही परमात्म-प्राप्ति हो जायगी। परमात्मप्राप्तिमें इतनी सुगमता इसलिये है कि वस्तुतः परमात्मा सदा सबको नित्य प्राप्त ही हैं; क्योंकि वे सदा सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें परिपूर्ण हैं। उनका कहीं भी अभाव नहीं है। जहाँ आप हैं, वहाँ भी विद्यमान हैं। ऐसा होनेपर भी नाशवान् सांसारिक पदार्थोंके संग्रह और उनसे सुखेच्छाके कारण ही भगवत्प्राप्तिमें देरी हो रही है। यदि एक परमात्म-प्राप्तिकी ही उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाय, तो संसारकी समस्त इच्छाएँ अपने-आप ही मिट जायँगी। फिर परमात्म-प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होगा।

अतएव जबतक दूसरी कोई इच्छा भीतर रहती है, तबतक यही समझना चाहिये कि अभी परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषाकी जागर्तिमें कमी है। इस कमीको दूर करना चाहिये। भगवान् तो केवल उत्कट अभिलाषासे ही मिलते हैं; क्योंकि अनन्य आश्रितको मिलना भगवान्‌की 'बान' (स्वभाव) है, वही उन्हें 'प्रिय' है जिसे किसी दूसरेका सहारा नहीं है। मानस ३। ९। ४ की अर्द्धाली है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

अतएव किसी भी भाई-बहनको परमात्मप्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। जब यह मनुष्य-शरीर उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है, तब यदि उनकी प्राप्ति ही न हो तो फिर मानव-जीवनका प्रयोजन ही क्या हुआ? धन, मान, बड़ाई, ऊँचा-पद, अधिकार आदि-(जिनके लिये यह शरीर मिला ही नहीं, उन-) को प्राप्त करनेके लिये उद्योग करना भूल ही है। शास्त्रोंमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि परमात्माको छोड़कर किसी अन्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये यह मनुष्य-शरीर दिया गया है। अतएव न तो संसारकी आशा ही रखनी चाहिये और न परमात्मप्राप्तिसे निराश ही होना चाहिये। संसारकी जो सामग्री मिली है, उसका सदुपयोग करना चाहिये, उसे संसारकी सेवामें ही लगा देना चाहिये। परंतु बदलेमें संसारसे कोई आशा नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।

'संसारकी आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और संसारसे निराशा ही सबसे बड़ा सुख है।' (श्रीमद्भा० ११। ८। ४४) अतएव संसारकी ओरसे निराशा और परमात्माकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् करना बस, केवल इतना ही परमात्म-प्राप्तिकी साधनामें आवश्यक है।

सांसारिक पदार्थोंकी मनचाही प्राप्ति आजतक किसीको भी नहीं हुई। यह सृष्टि अरबों वर्षोंसे चली आ रही है, परंतु ऐसा कभी नहीं सुना गया कि अमुक मनुष्यकी सांसारिक इच्छाएँ पूर्ण हो गयीं और उसकी तृप्ति सदाके लिये हो गयी, उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा। ऐसा त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। इसलिये संसारकी आशामें कोई लाभ नहीं है। आशा न रखनेपर भी जो सांसारिक वस्तुएँ मिलनी हैं, वे तो मिलेंगी ही; बल्कि सिद्धान्त यह है कि आशा नहीं रखनेसे सांसारिक वस्तुएँ सुगमतासे मिलती हैं और आशा रखनेसे वे कठिनतासे मिलती हैं। संसारसे निराश होकर भगवान्‌में तत्परतासे लगनेवाले पुरुषको जितनी सुख-सुविधा मिलती है, उतनी चाहनेवालोंको नहीं मिलती। सच्चे हृदयसे भगवान्‌की ओर चलनेवाले साधकका नया प्रारब्ध बन जाता है, फलस्वरूप उसे नयी सामग्री मिलने लगती है; क्योंकि वह सही मार्गपर चलनेवाला है। सही मार्गपर चलनेवालेके सभी सहायक हो जाते हैं और 'गलत मार्गपर चलनेवालेके निजी सम्बन्धी सहोदर भाई भी उसे छोड़ देते हैं।'

अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति।

जिस परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसकी ओर चलनेवाले पुरुषसे सम्पूर्ण सृष्टि सहमत है, शास्त्र सहमत है, धर्म सहमत है और त्रिकाल (भूत, भविष्य और वर्तमान) के समस्त सन्त सहमत हैं। स्वयं परमात्मा और उनकी प्रकृति भी उसके सहायक हैं। उसे किसी भी बातकी कभी कमी नहीं रहती। जब मनुष्य संसारकी आशा त्यागकर भगवान्‌में तल्लीन हो जाता है, तब संसार उसकी सेवा करनेके लिये लालायित रहता है। संसारको चाहनेवाले तो सांसारिक पदार्थोंके मिलनेपर भूलसे अपनेको सुखी एवं सफल मान लेते हैं; परंतु परमात्म-तत्त्वको चाहनेवालेकी सेवामें लगनेसे पदार्थ भी सफल हो जाते हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सूर्यार्घ्यदानसे रोगमुक्ति

मेरे पड़ोसमें एक मुसल्मान दर्जी 'अधकपारी' (आधीसीसी) रोगसे अत्यधिक पीड़ित थे। सभी प्रकारकी चिकित्सा एवं झाड़-फूँक आदि विविध उपचारोंमें व्यय की गयी, हजारोंकी धन-राशि निष्फल हो चुकी थी। एक दिन वे मेरे यहाँ आये और अपनी दुःखद गाथा सुनाकर रोने लगे। मैंने उन्हें सांत्वना दी और रोगमुक्तिका भरोसा भी दिलाया। पूछताछके क्रममें ज्ञात हुआ कि वे नियमित-रूपसे दिनमें पूर्वाभिमुख तथा रात्रिमें पश्चिमाभिमुख होकर ही मल-मूत्रका त्याग करते हैं। मैंने सुन रखा था कि रविवारको, विशेषरूपसे जो व्यक्ति प्रातः—सूर्योदयकालमें पूर्व तथा सायंकाल—सूर्यास्तके समय पश्चिम दिशाकी ओर मुँह करके मल-मूत्र त्यागता है, वह 'अधकपारी'-जैसे भयंकर सिरदर्द-रोगसे आक्रान्त हो जाता है। उस जनश्रुतिके आधारपर रोग पहचानते देर न लगी। फलतः मैंने उन्हें उस अभ्यासको बदलनेकी सलाह दी और दिनमें उत्तराभिमुख एवं रात्रिमें दक्षिणाभिमुख होकर ही मल-मूत्र त्यागनेका परामर्श दिया। साथ ही उनसे आग्रह किया कि वे प्रतिदिन नियमितरूपसे शौचादिसे निवृत्त होकर स्नान करके पवित्र हो, श्रीसूर्यनारायणको जल (अर्घ्यदान) दिया करें और विनीत-भावसे अपनी पिछली भूलोंके लिये उनसे क्षमा-याचना करनेका संकल्प लें।

'मरता क्या न करता।' वे तत्काल मेरी सलाहके अनुरूप नियम-पालनमें तत्पर हो गये। मात्र एक मास-तक ही इस नियमका पालन करते ही भगवान् सूर्य-नारायणकी आराधनाके अलौकिक प्रभावका सुपरिणाम स्पष्ट होने लगा और मात्र तीन महीनेके बाद वे उस असाध्य रोगसे पूर्णतः मुक्त हो गये। इसके पश्चात् उस आराधनाके प्रति विशेष आस्थावान् होनेके कारण वे आजीवन उस नियमका पालन बड़ी श्रद्धासे करते रहे। अब वे नहीं रहे, फिर भी उनका परिवार आज भी मेरे प्रति कृतज्ञताभाव तथा पारस्परिक सौहार्द रखता है।

—मदनमोहन गुप्त, 'मदन'

(२)

दस्युराजका हृदय-परिवर्तन

लगभग पंद्रह-बीस वर्ष पुरानी घटना है। मैं उन दिनों उदयपुरके 'महाराणा भूपाल-महाविद्यालय'में अध्ययन करता था। मेवाड़का दक्षिण-पश्चिमी भाग भीलोंका प्रदेश है। उन दिनों यह जाति लूट-पाटकर अपना जीवन-यापन करती थी।

एक बार किसी कारणवश मुझे खेरवाड़ा जाना पड़ा। लौटते समय मैं कोटड़ा होकर उदयपुर आ रहा था। मार्ग निर्जन था। दुर्गम पथके बीचसे बस जा रही थी। चारों ओर बीहड़ अरण्य ही दीख रहा था। अपराह्नका समय हुआ। एक घाटीके बीचमेंसे होकर बस जैसे-ही आगे बढ़ी तो देखा कि एक स्थानपर बीच रास्तेमें पत्थर और वृक्षोंकी बड़ी-बड़ी टहनियाँ डालकर मार्ग अवरुद्ध दिखायी पड़ा। विवश होकर ड्राइवरको बस वहीं रोक देना पड़ा। इतनेमें बंदूकों तथा लाठियोंसे लैस २०-२५ आदमी वहाँ उस अरण्यसे प्रकट हो गये। उन सबोंने बसको घेर लिया। एकने फायर करके बसका पिछला पहिया भी पंचर कर दिया। वे सब लुटेरे थे। फिर उन्होंने एक साथ दो-तीन हवाई फायरकर यात्रियोंमें आतङ्क फैला दिया। लुटेरोंके सरदारने पुरुषों और महिलाओंको पृथक्-पृथक् पङ्क्तियोंमें खड़ा हो जानेका आदेश दिया। सभी यात्री भयभीत हो उठे।

लुटेरोंने प्रत्येक यात्रीकी तलाशी ली। मेरे पास साठ रुपये थे, जिन्हें एक लुटेरेने छीन लिया। जब यह

लूट-खसोटकी कार्यवाही चल रही थी तभी मेरा ध्यान अचानक एक युवतीकी ओर गया, जो एक डाकूसे झगड़ रही थी। तबतक लुटेरोंका सरदार भी उस लड़कीके पास पहुँच गया।

वह रोबसे बोला—'क्या बात है?' युवती उसे देखते ही रोती हुई बोली—'भाई साहब! आपलोग मेरे रुपये ले लो, यह सोनेका हार भी ले लो, पर बाकी जेवर मत छूओ; अन्यथा मेरी ससुरालवाले समझेंगे कि हमने उनके दिये हुए गहने दबा लिये हैं।'

वह युवती लगभग बीस वर्षकी रही होगी। युवतीकी बात सुनकर किसी अज्ञात-प्रेरणासे दस्युराजके हृदयमें मानवताके अङ्कुर प्रस्फुटित हुए। वह अपने साथीसे बोला—'इसके सब जेवर लौटा दो।'

साथीको विस्मय हुआ। उसने कहा—'सरदार! न हम हातिमताई हैं और न दानवीर कर्ण; हम लुटेरे हैं। हमारा दया-करुणासे क्या सम्बन्ध?'

सरदार बोला—'इस लड़कीने मुझे 'भाई' कहकर पुकारा है। अब यह मेरी बहन है। भाईका कर्तव्य है कि बहनकी हर विपत्तिमें रक्षा करे। इसके गहने तथा रुपये इसे अभी लौटा दो, वरना ठीक न होगा।' अपने सरदारके बदलते तेवर देखकर साथी लुटेरा सहम गया। उसने सब गहने और रुपये उस युवतीको लौटा दिये। जाते-जाते दस्यु-सरदारने एक सौ रुपये युवतीको देते हुए कहा—'बहन! यह भाईकी तुच्छ भेंट स्वीकार करो।'

वह युवती उस लुटेरे भाईके इस अकृत्रिम स्नेहको देखकर गद्गद हो उठी। यह कार्य कुछ ही क्षणोंमें हो गया। दस्युदल जिधरसे आया, उधर ही जाकर कहीं चम्पत हो गया। हम सब यात्री रात्रिके लगभग दस बजे उदयपुर पहुँचे। इतने दिनों बाद भी जब कभी इस घटनाको याद करता हूँ तो अपराध-जगत्में जीनेवाले उस दस्यु-सरदारकी आचार-संहिता एवं मानवीय संवेदनाके समक्ष साश्चर्य अवनत हो जाता हूँ।

—प्राचार्य श्याममनोहर व्यास, एम्० एस्-सी०, बी० एड्०

(३)

अमूल्य भेंट

अपने किसी विशेष कार्यवश एक बार जब मैं अपनी बड़ी बहनके यहाँ जाकर कुछ दिन रही थी, उस समय हम तीन अतिरिक्त व्यक्तियोंके वहाँ पहुँच जानेपर भी बहनके यहाँ काम करनेवाली दाईने कभी कामसे मुँह नहीं मोड़ा। उसके लिये जैसे यह कोई महत्त्वकी बात नहीं थी। प्रायः होता यह है कि किसीके यहाँ यदि कोई अतिथि आ जायँ तो घरमें काम करनेवाले नौकर बीमारी या घरके आवश्यक कामका बहाना बनाकर साधारणतः दो-तीन दिनोंका अवकाश ले लेते हैं, पर मालतीने ऐसा न किया। उसने न कभी कोई बहाना किया और न कामसे जी चुराया। इस अवधिमें घरके सदस्य बढ़ जानेपर भी उसने वेतन बढ़ानेकी भी कोई माँग कभी न की। बंगाली होनेके कारण वह मिली-जुली बँगला-हिंदी-भाषामें बड़ा ही मृदु बोलती थी। काम बहुत सावधानी और तन्मयतासे करती थी। एक बार काम बतला देनेपर फिर दोबारा उसे कभी कहना नहीं पड़ता।

जब वहाँसे हमलोग अपने गाँव वापस आने लगे तो सबको भेंट देनेके लिये वस्तुएँ खरीदने बाजार गये। मालतीके लिये भी हमने स्टीलकी एक दर्जन कटोरियाँ खरीदीं। घर पहुँचनेपर थोड़ी देर पश्चात् मालती आयी तो अन्य दिनोंकी अपेक्षा उस दिन उसका मुख किसी नये उत्साहसे खिल रहा था। वह नयी साड़ी पहने हुए थी और उसके काम करनेके अभ्यस्त हाथ बड़ी कुशलतासे अपने कार्यमें मशीनकी तरह चल रहे थे। काम समाप्त होनेपर मैंने उसे बुलाया और उसके

लिये लायी हुई कटोरियोंका पैकेट उसके हाथमें रख दिया । उसने प्रसन्नभावसे लेकर उसे मस्तकसे लगाया । हर्षातिरेकसे उसकी आँखोंमें एक अपूर्व चमक थी । उसने तुरंत झुककर मेरे दोनों पैरोंका स्पर्श किया । मैं दो कदम पीछे हटती हुई बोली—'अरे, यह क्या करती है ?' उसने स्पर्श किया हुआ अपना हाथ सिरसे लगाते हुए कहा—'बहनजी ! आपने मुझे अपने स्नेहका पात्र समझा और यह बहुमूल्य उपहार देकर मेरा मान बढ़ाया है, इससे मैं आपकी चरणरज लेती हूँ ।'

'परंतु पैकेटके अंदर क्या है ? यह तो तुमने देखा ही नहीं ?' मेरा प्रश्न था । इसपर वह बोली—मुझे ड्राइवरसे मालूम हो गया था कि आप बाजारसे मेरे लिये उपहार लायी हैं । वह उमंगमें भरकर बोली—'देखिये न, तभी तो मैं नयी साड़ी पहनकर आपसे बहुमूल्य उपहार ग्रहण करनेके लिये आयी हूँ । हम बंगालियोंमें ऐसी प्रथा है कि किसी सम्भ्रान्त महानुभावसे भेंट करने अथवा उपहारादि ग्रहण करनेके समय नवीन वस्त्र पहनकर जाया जाता है ।' वह कटोरियोंका पैकेट लेकर प्रसन्न-मन अपने घर चली गयी । जाते-जाते उसने कहा—'इन्हें मैं अपने ससुराल ले जाऊँगी, वहाँ इतनी बहुमूल्य कटोरियाँ थोड़े ही होंगी ।'

हमारे वहाँसे रवाना होनेके एक दिन पूर्व मालती एक लम्बे कागजमें लपेटे हुए कोई वस्तु लेकर मेरे पास आयी और बड़े संकोचपूर्वक विनम्रभावसे बोली—'बहनजी ! यह बिना पैसोंकी भेंट आपके लिये लायी हूँ । ऐसे तो अपने वेतनमेंसे ही मैं कुछ लाना चाहती थी, पर सोचा न जाने पैसोंसे लायी हुई भेंट आप स्वीकार करें अथवा नहीं ।'

'अरे पगली ! क्या तुझे भी मुझे भेंट देनी चाहिये ?' मैंने कहा ।

'क्यों नहीं ? जिस प्रकार मेरे प्रति आपका इतना अधिक स्नेह है, वैसे ही मेरे हृदयमें भी आपके प्रति अत्यन्त आदर और प्रेमकी भावना है जिसे मैं कभी प्रकट न कर पायी थी । कृपा करके उस आदर-भावना-के रूपमें यह तुच्छ भेंट स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें ।' यह कहकर उसने कागजका वह बंडल मेरे हाथोंमें थमा दिया । खोलकर देखा तो चटाई-जैसा हाथका बुना हुआ एक आसन था । वह बोली—'बहनजी ! यह स्वयं मेरे मामाद्वारा बुना हुआ कुशासन है । आप भगवान्‌का नाम लेती हैं, तब शतरंजीपर बैठती हैं । उसकी अपेक्षा इस कुशासनपर बैठकर यदि नाम लिया जाय तो वह विशेष महत्त्वका होता है, ऐसा समझदार लोगोंसे मैंने सुना है ।'

उसके इस ज्ञानसे मुझे आश्चर्य हुआ । सुना तो था कि आसनोंमें कुशासन सबसे उत्तम है । परंतु कुशका आसन कहाँसे प्राप्त होगा—इसका मुझे पता न था । मालतीकी उपयोगी, अमूल्य भेंट देनेके इस बुद्धिकौशलपर मैं बलिहार हो गयी । काम करनेवाली भी हमें इस प्रकार भेंट दे, यह भी मेरा ऐसे सौहार्दका पहला ही अनुभव था ।

मेरे लिये अत्यन्त बहुमूल्य—उसके उस 'बिना पैसोंके उपहार'को मैं कभी न भूल सकूँगी ।

—श्रीपद्मजा ताम्हणकर (अखण्ड आनन्द)

(४)

भगवत्कृपासे प्राण-रक्षा

घटना कुछ वर्षों पहलेकी है, जब मैं झालरापाटन (राजस्थान)में राज-मन्दिरोंके जागीरके गाँवोंका प्रबन्धक था और कृषिकी सारी व्यवस्था करनेके लिये मुझे प्रायः वहाँ जाना पड़ता था । एक बार जब वर्षा होनेके बाद आकाश स्वच्छ हो गया था, तब मैं झालरापाटनसे घोड़ेपर सवार होकर एक सिपाहीको साथ ले गाँवकी ओर चला । मनमें भगवत्स्मरण चल रहा था ।

मार्गमें घोड़ा कीचड़से अपने पाँवोंको बचाता हुआ चल रहा था। मैं उसे शाबाशीके शब्द सुनाता जा रहा था, उनके सुननेसे मानो उसे साहस मिलता था। पशु भी स्नेह-व्यवहारको समझ लेते हैं, यह बात मुझे उस दिन सोचनेको मिली।

आगे बढ़नेपर अन्धकार भी बढ़ गया। घोड़ा सीधे सच्चे मार्गपर बराबर चल रहा था; परंतु अँधेरेमें मुझे ऐसा भ्रम हुआ कि जैसे वह मार्ग छोड़कर चल रहा हो। मनमें यह विचार आतेही मैंने लगामका झटका देकर उसे दूसरी ओर मोड़ना चाहा; किंतु वह मुड़नेसे इन्कार करने (रुकने) लगा। मुझे यह अटपटा लगा कि इतना सीधा, समझदार होनेपर भी आज यह कहना क्यों नहीं मानता है। थोड़ी मार और एड़ लगानेपर विवश होकर वेचारा घोड़ा मुड़ा, किंतु आगे चलकर फिर रुक गया। उसके इस अड़ियलपनेपर मुझे अत्यधिक क्रोध आया। मैंने उसे जोरकी एड़ लगायी, मारा भी। किंतु वह एक इंच भी आगे न बढ़कर पुनः पीछे हट गया। मुझे आश्चर्य हुआ। इतनेमेंही आकाशमें एकाएक बिजली चमकी। उसके क्षणिक, किंतु तीव्र प्रकाशमें मैंने देखा कि एक कुएँके थालेपर घोड़ेका अगला पाँव रुका है और घोड़ा घबरा रहा है। यदि वह आधा इंच भी और आगे पाँव बढ़ाता अथवा आगे बढ़नेके लिये उसे मैं विवश करता तो निश्चितरूपसे उसके साथ मैं भी उस गहरे कुएँमें जा गिरता। कुएँमें गिरनेपर हमारा जिस कष्टसे प्राणान्त होता, उसकी कल्पनामात्रसे आज भी रोमाञ्च हो आता है। वह अद्भुत दृश्य और स्थिति देखकर मैं सर्वरक्षक भगवान्‌की असीम, अहैतुकी कृपापर गद्गद हो, उनके दीन-रक्षक विरदपर कृतज्ञभावसे आँसू बहाने लगा। मैं तुरंत घोड़ेसे उतरा, उसकी पीठ थपथपायी और फिर उसे पकड़, पैदल चलकर सही रास्तेपर आया। यह सत्य है कि प्रभु अनेक रूपोंमें प्रकट होकर सबकी रक्षा करते हैं।—कृष्णगोपाल माथुर

(५)

बालिकाकी गम्भीर दुर्घटनासे रक्षा

मेरी पौत्री, जिसकी आयु सात सालसे कम है, प्रातः-सायं नित्यप्रति ठाकुरजीकी आरतीमें नियमसे सम्मिलित होती है और हठ करके प्रसाद और चरणामृत स्वयं ही बाँटना चाहती है। घरके लोग उसे ऐसा करनेके लिये अवसर भी देते हैं। उसका यह नियम श्रद्धा और भक्तिके साथ चलता है।

बात दिनाङ्क २२ सितम्बर १९७९की है। उस दिन दोपहरके समय चारा काटनेवाली मशीनको उखाड़कर दूसरे स्थानपर गाड़नेका उपक्रम था। मशीन उखाड़कर एक स्थानपर रखवा दी गयी थी। जिस स्थानपर मशीन रखी गयी थी, वह स्थान कुछ ढालू था। संयोगसे बालिकाको इसका ध्यान नहीं रहा। वह सदाकी तरह मशीनके पास गयी और हैण्डिलको पकड़कर उसपर बैठ गयी। मशीनका बैलेन्स अनियन्त्रित हो गया, वह मशीनके साथ पूरी-की-पूरी जमीनपर लुढ़क पड़ी। स्थितिके अनुसार मशीन बालिकाके शरीरपर गिरकर उसे गम्भीर चोट लगनी चाहिये थी, पर महान् आश्चर्य और भगवान्‌की कृपा; ऐसा न हुआ। कुछ दूर बैठे जिन व्यक्तियोंने देखा, उन्होंने बतलाया कि मशीन तो उस बालिकाके शरीरपर गिरी ही थी, पर वह बालिका चक्केकी खालीवाली जगहमें ज्यों-की-त्यों बैठी रह गयी।

उन प्रत्यक्षदर्शियोंका यह भी कथन था कि उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे किसी अदृश्य शक्तिने मशीनको हाथसे रोककर उस अबोध (चञ्चल) बालिकाको बचा लिया हो। उसके रक्षार्थ लोगोंके पास पहुँचनेपर वह कुछ सहमी-सहमी बनी रही कि बिना कुछ बोले उठकर घरकी ओर दौड़ गयी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि एकमात्र श्रीभगवान्‌ने ही अपनी महती कृपासे उस दिन उसे बचा लिया था, अन्यथा गम्भीर दुर्घटना घटनेमें कोई संदेह न था। —बलराम शास्त्री

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र, मासिक पत्र)

[वर्ष ५३]

सं० २०३५-३६ वि० (सन् १९७९ ई०)की

निबन्ध, कविता तथा संकलित सामग्रीकी सूची

(यह साधारण अङ्क-संख्या २से १२ तककी विषय-सूची है । विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसीके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है ।)

निबन्ध-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—अनुभव-सिद्ध चमत्कारी सूर्यव्रत (पं० श्रीमदनलालजी शर्मा) ··· ३२
२—अन्तर्दृष्टि (एक भाव-चित्र) (डॉ० श्रीराजेन्द्रमोहनजी भटनागर) ··· २१३
३—अहिंसाकी महत्ता (डॉ० श्रीविद्याधरजी धस्माना, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०, पी-एच्० डी०) ··· ··· २६९
४—आडम्बरी खर्चसे हानि (नित्यलीलालीन परम-श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन) ··· ··· ३९६
५—आत्मनः प्रतिकूलानि—(श्रीशिवेन्द्रप्रसादजी गर्ग, 'सुमन') ··· ··· ५१७
६—आत्मोद्धारके उपाय (स्व० श्रीगणपतरायजी लोहिया) ··· ··· १७०
७—आदित्य-व्रत ३८, ८५, १४०, १८५, २३४, २८१, ··· ··· ३१९
८—आप कहीं अपने प्रति अन्याय तो नहीं कर रहे हैं ! (श्रीगोरखनाथसिंहजी) ··· ५१६
९—आहार-चर्या (प्रो० पं० श्रीकृष्णदत्तजी बाजपेयी) ··· ··· २६७
१०—इच्छा, आसक्ति और श्रद्धा (श्रीगोरखनाथ सिंहजी) ··· ··· ४७३
११—ईश्वर-प्रणिधानकी साधना (श्रीकृष्णदत्तजीभट्ट) ४४९
१२—उपनिषदोंमें भगवान् सूर्यकी उपासना (श्रीसोम-चैतन्यजी श्रीवास्तव, शास्त्री, एम्० ए०) ··· ५
१३—एक दृढ़ निश्चयी भक्त ब्राह्मण [भक्तगाथा] २२५
१४—कर्मचेष्टाद्वारा आन्तरिक शान्ति (डॉ० श्रीराम-चरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ५११
१५—कल्याणके आगामी ५४वें वर्ष (सन् १९८०के विशेषाङ्क 'निष्काम कर्मयोगाङ्क'की प्रस्तावित विषय-सूची) ··· ··· २४०
१६—कल्याण-वाणी (शिव) ९८, १४६, १९४, ······ २४२, २९०, ३३८, ३८६, ४३४, ४८२
१७—काशीकी आदित्योपासना (प्रो० पं० श्री-गोपालदत्तजी पाण्डेय, एम्० ए०, एल्० टी०, १५, ७६
१८—काशीके द्वादश आदित्योंकी पौराणिक कथाएँ (श्रीराधेश्यामजी खेमका, एम्० ए०, साहित्यरत्न) ··· ४१, ८३
१९—(श्री) गणेशचतुर्थी व्रतका पूजा-विधान ··· ३७९
२०—गायकी उपादेयता (श्रीरामानन्दजी तोष्णी-वाल, बी० ए०, विशारद) ··· ३७१
२१—गायत्रीकी विशेषता (पं० श्रीकेशीजी मिश्र, सेवा-निवृत्त शिक्षापदाधिकारी) ··· ४१०
२२—गीताका कर्मयोग १०-१८ [श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या] (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ११६, १६२, २१०, २५४, ३०१, ३५१, ३९९, ४४७, ४९७
२३—गीताप्रेस, गोरखपुरके उपलब्ध नवप्रकाशित साहित्यकी सूची ··· ··· ४७
२४—गुरुजीका उपदेश ··· ··· २७२
२५—गोधनं राष्ट्रवर्धनम् (श्रीव्योहार राजेन्द्रसिंहजी) २९९
२६—गोपी बनो (पूज्य श्रीरामचन्द्रजी 'डोंगरेजी' महाराज) ··· ··· २०४
२७—गोरक्षाके उपाय (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके विचार) ··· ११०
२८—चित्तकी प्रसन्नताका सबल माध्यम—भजन-गान (श्रीअगरचंदजी नाहटा) ३७५

२९–जगज्जननी सीताकी रूपछवि (डॉ० श्रीज्ञानशंकरजी पाण्डेय) ... ४५५
३०–जाग्रत् कौन ! (पं० श्रीभृगुनन्दनजी मिश्र) ५१३
३१–जियो और जीने दो—मानवताकी पुकार (श्रीमङ्गलीप्रसादजी शर्मा, एम्० ए०, साहित्यरत्न-प्रभाकर) ... ४१५
३२–जीवन तुच्छ बातोंमें नष्ट करनेके लिये नहीं है (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ४७१
३३–जो तू चाहे सुख सदा (श्रीहरिजी भारद्वाज) ५०७
३४–ज्ञान-सम्पत्ति (आचार्य श्रीभागवतानन्दजी) ... ४८६
३५–तृचाकल्प नमस्कार (डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०) ... ८७
३६–देवीके कुछ प्रमुख सिद्धपीठ और उनकी महिमा (डॉ० श्रीसीताशरणजी मिश्र 'शरण') ३८१
३७–धर्मग्रन्थ हमारे प्रत्यक्ष देवता हैं (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ४०८
३८–धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाकी आवश्यकता (श्रीव्रजभूषणजी गुप्त 'दीपक' एम्० ए०, (हिन्दी), साहित्यरत्न) ... २२८
३९–धर्मो रक्षति रक्षितः (धर्मकी रक्षा करनेपर धर्म भी हमारी रक्षा करता है) (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर स्वामी श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वतीजी महाराज) १९५
४०–नर्मदा-प्रदक्षिणा-माहात्म्य (पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज) ... १०७, १५७
४१–नवग्रह-उपासना ... ४३
४२–नवग्रह-पूजन-विधि ... ६४
४३–नवग्रहोंके हवनादि ... ४६, ६६
४४–नाम-महिमा (परम पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवाबाबाका महत्त्वपूर्ण सदुपदेश) ३२७
४५–पढ़ो, समझो और करो ९३, १४२, १९०, २३७, २८५, ३२९, ३८२, ४३०, ४७६ ५२१
४६–परमश्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन १०४, १४९, १९८, २४५, २९१, ३३९, ३८७, ... ४३६
४७–परमार्थकी पगडण्डियाँ (नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन) ... १५९, २५१, ४४४
४८–परीक्षित सिद्ध सूर्य-यन्त्र (पं० श्रीमदनलालजी शर्मा) ७२
४९–पितरोंका समयविभाग और श्राद्धविवेचन (पं० श्रीदीनानाथजी शास्त्री, 'सारस्वत' विद्यावागीश, विद्यावाचस्पति) ... ३६२
५०–पुत्रदाता गणेशचतुर्थी-व्रत (सुश्री मीरा मानिक) ३१७
५१–पुराण-प्रसिद्ध मैत्रेयवन—कोणार्क (श्रीसत्यनारायणपतिजी) ३०
५२–प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणालीके कुछ मूलभूत सिद्धान्त (डॉ० श्रीसुरेन्द्रप्रसादजी गर्ग, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एन्० डी०) ३२३
५३–भक्त नारायणदास ... ५०९
५४–भक्त पुरुषोत्तम [भक्तगाथा] ... ४६८
५५–भक्त प्रतापराय ["] ... ३१३
५६–भक्त महेश मण्डल ["] ... ४२३
५७–भक्तिकी उपयोगिता (आचार्य श्रीविनोबा भावे) ४३५
५८–भक्ति क्या है ! ४३५
५९–भगवत्प्राप्ति (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ... १०१, १६८
६०–भगवान्‌की अनुपम उदारता (ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानसे ४८३
६१–भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव (नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा सं० २०१४ वि०के श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी महोत्सवपर दिये गये प्रवचनका सारांश) २९६
६२–भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा दिये गये प्रवचनका सारांश) ४६३
६३–भगवान् श्रीकृष्णका लीला-माधुर्य (डॉ० श्रीअवधविहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल्०) ३४२, ४०२
६४–भगवान् श्रीरामचन्द्रद्वारा स्थापित सूर्य-मन्दिर—मोढेरा (श्रीकृष्णनारायणजी पाण्डेय, एम्० ए०, एल्० टी०, एल्-एल्० बी०) ... १३२
६५–भगवान् सूर्य तथा गोमाता (आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय) १८
६६–भगवान् सूर्य और मानसके श्रीराम (पं० श्रीभैरवदत्तजी उपाध्याय) ८९
६७–भगवान् सूर्यकी पूजा-विधि ५१
६८–भगवान् सूर्यकी सर्वव्यापकता (अनन्तश्री वीतराग स्वामी श्रीनारायणाश्रमजी महाराज) ३
६९–(श्री) भगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना ... ३३३

७०–(श्री) भगवन्नाम-जपकी महिमा, उसके नियम और निवेदन ४२८
७१–भाद्रपद मासके अनुष्ठेय व्रत, पर्व तथा उत्सव (जा० श०) ८वें अङ्कका तीसरा आवरण पृष्ठ ... ...
७२–भारतीय कलामें सूर्य-प्रतिमाएँ (डॉ० श्रीव्रजेन्द्रनाथजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, एफ्० आर्० ए० एस्० (लन्दन) २३
७३–भारतीय जीवनमें गृहस्थाश्रम (श्रीसेठबहादुरजी मिश्र, एम्० ए०, एल् टी०) ... ४६६
७४–भारतीय संस्कृतिमें गो-महिमा (डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी) ... ४५९
७५–महत्त्वकी वस्तुएँ आपको सुलभ हैं (डॉ० श्री-रामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ३११
७६–महाकवि सूरदासकी उपासना-पद्धति (श्रीसन्हैयालालजी ओझा, एम्० ए०, साहित्यरत्न) ... ३९३, ४५२, ५०४
७७–महाभागवत ज्योतिपन्त १७७
७८–माँ-बेटेकी बातचीत (बाल-शिक्षा) ... ३६९
७९–मूर्तिपूजा विश्व-व्यापक (पं० श्रीदीनानाथजी शास्त्री, सारस्वत, विद्यावाचस्पति, विद्याभूषण) १५४
८०–मोक्ष-स्वरूप-विमर्श (अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ... ९९, १४७, १९६, २४३
८१–यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् (आचार्य पं० श्रीराजबलिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, व्याकरण-शास्त्राचार्य, साहित्यशास्त्री, साहित्यरत्न) १८०, २२२
८२–योगिराज श्रीअरविन्दका पागलपन (डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी 'आनन्द' एम्० ए०, बी० एड्०, व्याकरणाचार्य, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ३५९
८३–रविवार और उसके व्रत-नियमादि (पं० श्रीचन्द्रदत्तजी त्रिपाठी, आयुर्वेदशास्त्राचार्य) ३६
८४–राजमाता कृष्णाबाई होल्करकी आदर्श दिनचर्या (श्रीशिवसिंहजी मल्लारामजी चोयल) ३२६
८५–रामकथाका वैदिक स्रोत (डॉ० श्रीराजेश्वरसिंहजी 'राजेश' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, काव्यरत्न, राष्ट्रभाषा-पुरस्कार-विजेता) ... २१६
८६–रामचरितमानसमें प्रतिपादित भक्तिका स्वरूप (आचार्य डॉ०श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज', एम्० ए०, पी०-एच् डी०, काव्यरत्न) १६५, २०८
८७–रामचरितमानसमें भगवान् शिवका जीवन-दर्शन (डॉ० श्रीकृष्णजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ३०७
८८–(श्री) रामचरितमानसमें सामाजिक दृष्टिकोण (प्रो० श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी तायल, एम्० ए०) ४०४
८९–(श्री) राधा-तत्त्व और महिमा (नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन) ३४६
९०–(श्री) रामभक्त हनुमान्‌जी (श्रीशिवनारायणजी गुप्त) ४२०
९१–(श्री) रामकी विनयशीलता (श्रीउल्फतसिंह-जी चौहान, 'निर्भय') ५०२
९२–रामायणका दर्शन (श्री एस्० विजयकुमारजी) ४४०
९३–रे मन ! वृन्दा-विपिन निहार (श्रीरामदासजी शास्त्री, महामण्डलेश्वर) ३५६
९४–वंशी-ध्वनि (डॉ० श्रीरामचरणलालजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... २०१
९५–विपत्तिको मुस्कराकर पराजित कीजिये (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) १७४
९६–वेदोक्त रात्रिसूक्त (पं० श्रीकृष्णचन्द्रजी मिश्र, बी० ए० (आनर्स), बी० एल्०, डिप-इन-एड्०) १५१
९७–वैदिक युगकी महान् विभूति—महर्षि याज्ञवल्क्य (श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'ब्रजेश', साहित्यरत्न, आगम-वाचस्पति, धर्मरत्न, विज्ञानरत्न) २१९
९८–वैदिक वाङ्मयमें सूर्य और उनका महत्त्व (आचार्य पं० श्रीविष्णुदेवजी उपाध्याय, नव्यव्याकरणाचार्य) ९, ७३
९९–वैदिक साहित्य एवं भारतीय स्थापत्य किं वा मूर्तिकलामें सूर्य (श्रीजगदीशजी शर्मा) ... २६
१००–वैज्ञानिक सौर तथ्य–२ (प्रेषक—श्रीजगन्नाथ-प्रसादजी, बी० काम्०) ८२
१०१–शान्तिकी खोज (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) २५७
१०२–शिक्षा, यम, अनुशासन और सच्चरित्रता (सुश्री मंजु दुबे, एम्० ए०, बी० एड्०) ... ३२१
१०३–शिव तथा शिवका स्वरूप (आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०) ... ११३
१०४–श्रद्धा (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ... ३६६

१०५–श्रावण मासकी महिमा और उसके कृत्य (जा० श०) ७ वें अङ्कका तीसरा आवरण पृष्ठ
१०६–श्रीमूर्ति (डॉ० श्रीअवधविहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल्० ··· ··· ४९२
१०७–श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत चतुःसूत्री भक्ति-सिद्धान्त (श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी० ए०, साहित्यरत्न) ··· ··· ३९०
१०८–संत वनो (पू० श्रीडोंगरेजी महाराज) ··· ४१९
१०९–संतोष सुख-शान्तिमें सहायक है (नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन ४८९
११०–संध्योपासना और सूर्य (पं० श्रीकृष्णकान्तजी मिश्र, ज्यो० वि०) ··· ··· १२४
१११–सती (भीलनी) चण्ड-पत्नी [भक्तगाथा] ··· २६४
११२–सती भोगवती ··· ··· ३७३
११३–सत्य और प्रेमका पुजारी—स्पिनोजा (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ··· ··· २७७
११४–सत्यमेव जयते [बोधकथा] (श्रीमहाराज, साहित्यसदन, बझेरा) ··· ··· ४८१
११५–समस्त विश्वमें ईश्वरको देखे (श्रीमदनमोहनजी पाहवा, एम्० ए० (हिन्दी-संस्कृत), बी० एड्०, साहित्यरत्न) ··· ··· २९३
११६–साधकोंके प्रति—···१८३, २८३, ३७७, ४२७, ५१९
११७–साधनामें दैन्यभावका महत्त्व (नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ··· २०५
११८–सुख-प्राप्तिका उपाय (प्रो० श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी तायल, एम्० ए०) ··· ··· २७४
११९–सूरदास और भगवान् श्रीकृष्णकी जन्म-तिथि (डॉ० श्रीएम्० संगमेशम्, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· १२०
१२०–सूर्य और ब्रह्माण्ड (श्रीशिवनारायणजी गौड़) २०, ७८, १३६, १८६, २३२
१२१–सूर्यनमस्कारकी एक विधि (श्रीजगतनारायण-जी, स्वतन्त्रता-सेनानी) ··· ··· ८८
१२२–सूर्य-पूजाका आद्य स्थान—भारत (श्री-रश्मि त्रिवेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एडवोकेट) ··· ··· १२९
१२३–सूर्यस्नानका आनन्द (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) १३३
१२४–सूर्य दि ग्रहोंके रत्न, यन्त्र, व्रत, मन्त्र और औषधि (पं० श्रीमदनलालजी शर्मा भृगुसंहिताचार्य) ··· ··· ६७
१२५–सूर्योदयसे पूर्व उठनेसे लाभ (श्रीराणपुरी 'दादा') ··· ··· ४१३
१२६–सौन्दर्य-बोध (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· २६१
१२७–स्वर्ग नहीं चाहिये मुझे [एक निष्कामकर्म-योगीका पौराणिक-आख्यान] स्वामी श्री-ओंकारानन्दजी महाराज) ··· ··· ५००
१२८–हंसगीतामें अध्यात्म एवं लोक-नीति (श्रीसत्यपालजी शर्मा, प्राध्यापक) ··· ३०४
१२९–(श्री) हरि और हरिनाम (डॉ० श्रीअवधविहारी-लालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल्०) ··· २४७
१३०–हरिकथामृत-सार (कन्नड़-कवि श्रीजगन्नाथ-दासविरचित) [अनु०—डॉ० ए०-कमलनाथजी 'पंकज'] ··· ··· ३४८

पद्य-सूची

१–अन्तरमें राशि-राशि किरणें उतार दो (डॉ० श्रीछोटेलालजी शर्मा, 'नागेन्द्र', एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बी० एड्०) ··· ५६
२–ईश्वर सर्वव्यापक है (श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, एम्० ए०, एल-एल्० बी० ··· २५९
३–कविका ध्यान (श्रीबलभद्रजी) ··· ४६५
४–कोटि-कोटि प्रणाम है (श्रीनृसिंहजी पाठक, 'अमर', विद्यालंकार) ··· ··· ८
५–प्रभुजी! ऐसा दो वरदान (श्रीबालकृष्णजी गर्ग) २७३
६–प्रभाकरकी प्रशस्ति (श्रीवेदप्रकाशजी द्विवेदी 'प्रकाश') ··· ··· १८९
७–भक्तमहिमा-गान (श्रीहरिरामजी 'व्यास') ··· १७९
८–वह कौन है ! (श्रीबालकृष्णजी गर्ग) ··· ४७०
९–सदाचार-महिमा (पं० श्रीरघुनायकजी मिश्र) २३१
१०–सूर्य-प्रार्थना (कविवर आदित्यके अप्रकाशित 'सूर्यावलोकन'से) प्रेषक—श्रीकृष्णपालसिंहजी गौतम, एम्० ए०, बी० एड्०) ··· ६३
११–सूर्यस्तवाष्टक (डॉ० श्रीश्यामविहारीजी मिश्र) ५३
१२–हरौ दुख दूषण द्वंद हमारे (श्रीमणिरामजी शर्मा 'मणि') ··· ··· १७

संकलित पद्य-सूची

१–प्रेमकथा (ध्रुवदास) ··· ··· २८०
२–(श्री) बाँकेविहारीकी रूप-छवि (पदरत्नाकर) ४३३
३–भक्तोंकी भावदृष्टि ··· ··· २८२
४–भगवदर्थ जीवन ही सार्थक है (सूरदास)··· ४२६
५–यशोदाका अप्रतिम सौभाग्य (सूरसागर) ··· २८९
६–(श्री) रामका भ्रातृप्रेम (गीतावली) ··· ४८१
७–सती अनुसूयाकी संकल्प-सिद्धि (रसिक-विहारीकृत राम-रसायन) ··· ३८५

८–सुमङ्गलकारिणी दुर्गाकी जय (पदरत्नाकर) ··· ३३७
९–हनुमन्नाम-वन्दना (कविवर 'मान') ··· ४२२
१०–हरिकी लीला ··· ··· ३४५

संकलित सामग्री-सूची

१–अर्जुनकृत सूर्य-स्तवन तीसरे अङ्कका तीसरा आवरण-पृष्ठ
२–अमृत-विन्दु ··· ९२, २३६, ३२८
३–असक्तः स विशिष्यते (लोकमान्य तिलक) ··· ११९
४–आकाशगङ्गा और सूर्य ··· १३९
५–आदित्यहृदय ··· ··· ५९
६–उदार व्यवहार हर स्थितिमें प्रसन्नतादायक १७६
७–काशीका मान-मन्दिर (वेध-शाला) ··· ८४
८–किन कार्योंमें विलम्ब और किन कार्योंमें विलम्ब नहीं करना चाहिये–नवें अङ्कका तीसरा आवरण-पृष्ठ
९–कुरूपता और सुन्दरता (श्रीशिवचरणसिंहजी चौहान) ५१५
१०–(श्री) कृष्ण-कुण्डलीका आधारभूत एक प्राचीन पद ··· ··· ··· १२३
११–कोणार्क ··· ··· २९
१२–गर्हित (निन्दनीय) आहार (महाभारत) ··· २६८
१३–गायत्री-ध्यान-विषयक समाधान ··· ३२०
१४–गायत्री परमगति है ··· ··· २२४
१५–गायत्री (सावित्री) का पूजन ··· १२७
१६–गायत्रीकी महिमा ··· ··· १२८
१७–गोधनका महत्त्व (मनीषियोंके विचार) ··· तीसरे अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ
१८–दयाका पुरस्कार ··· ··· २७१
१९–दुखोंके कारण और उनसे संतरणका उपाय छठे अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ
२०–दाम्पत्य-धर्म ··· ··· ३७४
२१–धर्म ही सदा-सर्वत्र सच्चा सहचर है (मनुस्मृति) २००
२२–नवग्रह-कवच (यामलतन्त्र) ··· ६५
२३–नर्मदाके नमस्कारसे विष एवं सर्प-भयका शमन (श्रीविष्णुपुराण) ··· १५८
२४–नमामि त्वां गणाधिप (पद्मपुराण) ··· ३१८
२५–नामप्रेमीकी आदर्श चाह (श्रीचैतन्य महाप्रभु) २५०
२६–परमेश्वर शिवको नमस्कार (भगवत्पाद आचार्य शंकर) ··· ··· २४१
२७–बड़ा कौन ? (महाभारत) ··· २२१
२८–ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् ··· ४१४
२९–भक्तोंकी सदा अभ्युदयकारिणी भगवती दुर्गा- नवें अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ
३०–भगवद्भक्तिका आलम्बन सर्वोपरि है (श्रीमद्भागवत) ··· ··· १६१
३१–भगवान् आद्य-शंकराचार्यविरचित भगवती गङ्गाका स्तवन (श्रीगङ्गाष्टकम्)- पाँचवें अङ्कका तीसरा आवरण-पृष्ठ
३२–भगवान्की दिव्यलीलाकी महिमा (श्रीमद्भागवत) ४५४
३३–भगवान् विष्णुका स्तवन चौथे अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ
३४–भगवान् श्रीसूर्यनारायण प्रसन्न हों (मार्कण्डेय-पुराण) ··· ··· ४९
३५–मनको प्रबोध (श्रीभाईजी) (पदरत्नाकर)- ··· ४थे अङ्कका तीसरा आवरण-पृष्ठ
३६–महाराज मनुकृत सूर्यस्तुति ··· २
३७–मानसकी मर्यादाशीलता ··· ३१०
३८–मुक्त पुरुषके लक्षण (महाभारत) ··· २४६
३९–मृत्युसे अमृतत्वकी ओर ··· ··· ४८८
४०–मोक्षका हेतु (विवेक-चूडामणि) ··· २४४
४१–याज्ञवल्क्यकृतं सूर्यस्तोत्रम् ··· ··· ६२
४२–योगक्षेमं वहाम्यहम् (गीतामनीषी) ··· ३५५
४३–रविवार-व्रतानुष्ठान ··· ··· ३७
४४–(श्री) राधा-महिमा (भक्त श्रीगदाधरमिश्र) ··· आठवें अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ ···
४५–रामनामका अद्भुत प्रभाव (प्रपन्नगीता) ··· १९३
४६–व्रतके अधिकारी और उसके सामान्य नियम ··· ३५
४७–वारसम्बन्धी व्रतोंका वर्णन (अग्निपुराण) ··· ८६
४८–विजयिनी मूर्ति-पूजा ··· ··· १५६
४९–विश्वका कल्याण हो (श्रीमद्भागवत) ··· ४१७
५०–शेर भी अहिंसक एवं हरि-भक्त बन गया (भक्तिविजय) ··· ··· ३५०
५१–संकष्टनाशनस्तोत्रम् ···१०वें अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ
५२–संतवाणी (पूज्य स्वामी श्रीहरिहरानन्दजी, चाँदोदके एक पत्रसे) ··· ··· ४३९
५३–संतोषका मूल्य ! (महर्षि वैशम्पायन) ··· ४९१
५४–साधन-भक्ति (श्रीमद्भागवत) ··· २०७
५५–सावित्रीपर धर्मराजकी अनुकम्पा (महाभारत) १४५
५६–(श्री) सूर्यदेवकी महिमा (श्रीसूर्यगीता) ··· ५०
५७–(श्री) सूर्यमण्डलस्तोत्रम् ··· ··· ५५
५८–(श्री) सूर्यस्तवराजः ··· ··· ··· ५७
५९–सूर्यार्घ्य-नमस्कार-प्रार्थना (शिवपुराण) ··· ९७
६०–सूर्यादि ग्रहोंसे माङ्गल्य-याचना ··· १
६१–सूर्यार्यास्तोत्रम् ··· ··· ··· ५४
६२–स्वर्गत्यागके फलस्वरूप ज्ञानरूप निर्वाणकी प्राप्ति ५०१
६३–स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ··· ··· ४०९

'कल्याण'के ग्राहकों तथा प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

(१) 'कल्याण' इस अङ्कके साथ अपना ५३ वाँ वर्ष पूरा करके ५४ वें वर्षमें प्रवेश करेगा। इस अन्तिम (बारहवें) अङ्कके साथ अब चालू वर्षका मूल्य भी समाप्त हो जाता है। आगामी ५४ वें वर्षके प्रारम्भमें—जनवरी १९८० के विशेषाङ्कके रूपमें **'निष्काम-कर्मयोगाङ्क'** प्रकाशित होगा।

(२) इस अङ्कके लगभग ४४० पृष्ठोंमें विषयानुरूप रोचक तथा उपादेय सामग्री रहेगी। हमारे उपनिषद्-ग्रन्थों, शास्त्रों एवं संस्कृतिमें 'निष्कामकर्म'का विशिष्ट स्थान और महिमा है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो कर्मयोगके प्रतिपादक विचार विस्तारसे भरे पड़े हैं। इन सभी ग्रन्थोंके आधार-पर लिखित विवेच्य विषयकी महत्त्वपूर्ण पाठ्य सामग्रीसे युक्त एवं रंगीन-चित्रोंसे सुसज्जित यह अङ्क भी भगवत्कृपासे 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंकी परम्परामें अपने ढंगका एक अनुपम सङ्कलन होगा—ऐसी आशा की जाती है।

(३) विशेषाङ्कके सम्पादन तथा मुद्रणका कार्य आरम्भ हो गया है। इस वर्ष पिछले कई महीनोंसे बिजलीकी कमीके कारण छपाई आदिमें पर्याप्त व्यवधान पड़ता आ रहा है और आगे भी क्या स्थिति रहेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसी स्थितिमें एवं कतिपय अन्य कारणोंसे भी हम चाहते हुए भी विशेषाङ्क जनवरीमें प्रकाशित नहीं कर पायेंगे, ऐसी दशामें फरवरी १९८०में द्वितीय साधारण-अङ्कके साथ उसके प्रकाशित होनेकी सम्भावना है। अतः निवेदन है कि तबतक 'कल्याण'के सभी ग्राहक महानुभाव तथा पाठक कृपया धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करेंगे। वे इस विषयमें अनावश्यक पत्र-व्यवहार करनेका कष्ट न उठायेंगे, यह हमारी विनम्र प्रार्थना है।

(४) जिन पुराने तथा नये ग्राहकोंने वार्षिक मूल्य १६·०० रु० अभीतक न भेजे हों वे अब 'कल्याण'का अग्रिम शुल्क मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भेजनेकी कृपा करें। यह अजिल्दका ही बढ़ा हुआ मूल्य है। सजिल्दकी व्यवस्था इस वर्ष भी नहीं है।

(५) जो सज्जन मूल्य-वृद्धिकी सूचनासे पूर्व अथवा बादमें किसी समय मात्र १४·०० रुपये ही भेज चुके हों और 'कल्याण' सं० १० (अक्टूबर १९७९) में प्रकाशित मूल्य-वृद्धिकी सूचनाके अनुसार उन्होंने अबतक मूल्यपूर्ति-हेतु दो रुपये नहीं भेजे हों, वे अब उक्त दो रुपये अविलम्ब भेजकर—मूल्य-पूर्ति करनेकी कृपा करें।

(६) जिन सज्जनोंको किसी कारणवश (जनवरी १९८० से आरम्भ होनेवाले) आगामी वर्षमें ग्राहक न रहना हो, वे कृपया एक कार्ड लिखकर तत्सम्बन्धी सूचना कार्यालयको अवश्य और अविलम्ब भेज दें। इससे 'कल्याण'कार्यालयको व्यवस्थाकी सुविधा होगी।

व्यवस्थापक—**'कल्याण'**, पो०—गीताप्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)